श्रीमम्मटाचार्यप्रणीतः

काव्यप्रकाश

एक अध्ययन

पं. थानेशचन्द्र उप्रैती

श्रीमम्मटाचार्यप्रणीत

काव्यप्रकाश

(एक अध्ययन)

लेखक

पं. थानेशचन्द्र उप्रैती

व्याकरणतीर्थ, साहित्यपुराणेतिहासाचार्य

परिमल पब्लिकेशन्स

दिल्ली

प्रकाशक :

परिमल पब्लिकेशन्स
27/28, शक्ति नगर
दिल्ली - 110007
दूरभाष - 7445456
E-mail : parimal@ndf.vsnl.net.in

द्वितीय संस्करण 2003

मूल्य - 70 रुपये

मुद्रक :
हिमांशु प्रिन्टर्स
मेन यमुना विहार रोड़
मौजपुर, दिल्ली-92

विषयानुक्रमणिका

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

काव्यप्रकाशः

यस्या कृपाकटाक्षेण स्पन्दते निष्क्रियं जगत् ।
तां वन्दे मातरं वाचां, रमणीयामर्थभूषिताम् ॥१॥
वाग्देवताऽवतारस्य मम्मटस्य कृताविह ।
भूमिकाकल्पनाऽनल्प जल्पनैव विभाति मे ॥२॥
प्रयासः सहसा योऽयमल्पज्ञस्य ममोऽपि यत् ।
सेवाऽधिकार एवायं मन्यतां धीधनैरिह ॥३॥

संस्कृत वाङ्मय भारत का ही नहीं, अपितु यह विश्व की एक अमूल्य निधि है। इस वाङ्मय के अनन्त रत्नों की आभा से कभी यह निखिल भूमण्डल प्रकाशित था, जिनकी मन्द-मन्द कुछ धूमिल किरणें आज भी सुदूर देश देशान्तर को आलोकित कर रही हैं। भारत ही प्राधान्येन इस अमृत कल्प-वाङ्मय की उत्स भूमि रही है, क्योंकि इसी के अरुण प्रकाश से प्रकाशित प्राञ्जल प्राङ्गण में महर्षियों ने सर्वप्रथम सामगान किया था। शनैः शनैः इसके स्वर महाकाश के मध्य गूंजते हुए, यत्र तत्र सर्वत्र ही दिव्य सन्देश देते रहे।

परमपिता परमेश्वर के विश्वासस्वरूप वेद इसी वाङ्मय की दिव्य-विभूति हैं, जहाँ से निरन्तर निगमागम की अजस्र धारा प्रवाहित हो रही है। वेद ही आर्य जाति के अमर-काव्य हैं। जिनके विषय में कहा है—"**पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति**" संस्कृत वाङ्मय सम्बन्धी-आगम-निगमादि-शास्त्र-प्रस्थान व सिद्धान्तों की जितनी भी शाखा प्रशाखायें हैं, वे सभी इसी वेद कल्पतरु के ही विवर्त हैं।

मनुष्य जीवन के समृद्धि-सुख-शान्ति व समुन्नत करने की जितनी भी विद्यायें हैं, वे सब वेदों में वर्णित हैं। धर्म-अर्थ-काम व मोक्ष चारों पुरुषार्थों का सम्पादन कराने वाले सुन्दर साधनों का यहाँ मनोरम वर्णन है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जीवनोपयोगी किसी भी विद्या या कला का कोई अंश ऐसा नहीं है, जिसका यहाँ वर्णन न किया हो। पुरुषार्थ चतुष्टय-सम्बन्धी जिन उपायों का वेद में वर्णन पाया जाता है, वे शास्त्र सरणि में

परिष्कृत किये हुए प्रस्थान अतिगहन सूक्ष्मातिसूक्ष्म ऊहापोह से परिपूर्ण, व तर्क कर्कश होने से अत्यन्त दुरूह हो गये हैं, इस कठिन मार्ग से लौकिक पुरुषार्थ त्रिवर्ग—धर्म-अर्थ-काम, तक प्राप्त करना ही जहाँ कठिन है, वहाँ परम पुरुषार्थ मोक्ष तक की पहुँचने की तो फिर चर्चा ही क्या ?

सुकुमारमति भी अनायास ही चारों पुरुषार्थों को जिससे प्राप्त कर सकें, ऐसे वाङ्मय के इस ललित अंश का नाम साहित्य शास्त्र, या काव्यमार्ग है। पुरुषार्थ चतुष्टय के सरलतया सम्पादन में यही काव्यमार्ग अत्यन्त उपादेय प्रतीत होता है। अन्य शास्त्रीय उपाय इसकी अपेक्षा कठिन, श्रमसाध्य व दुरूह होने के कारण सुकुमार मतिवालों के अनुष्ठान के योग्य नहीं है, अत एव काव्य की उपादेयता को ध्यान में रखते हुए साहित्यदर्पणकार श्री विश्वनाथ कविराज का यह कथन भी युक्तियुक्त ही है—

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ।।

"मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र की तरह आचरण करना चाहिए, न कि लङ्काधिपति रावण की तरह" इस तरह कृत्य में प्रवृत्ति तथा अकृत्य से निवृति कराने के लिए काव्य के कान्तासम्मित उपदेश सर्वत्र प्रसिद्ध ही हैं। इसी प्रकार चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति के विषय में भी यही कहा जा सकता है कि परिनिष्ठित प्रौढ बुद्धि वाले भले ही बड़े अध्यवसायपूर्वक वेदादिशास्त्रों से उक्त फल को कथञ्चित् प्राप्त कर लें, पर सरल तथा सुकुमार मति वालों के लिए तो यह कार्य अत्यन्त ही दुष्कर है। फिर जब एक सरल मार्ग का निर्माण उक्त गन्तव्य स्थान की प्राप्ति के लिए हो चुका है, तो कौन ऐसा बुद्धिमान होगा जो दुष्कर-गहन व कठिन मार्ग की शरण लेगा। कड़वी औषधि के द्वारा शमनीय रोग यदि मीठी औषधि से भी शान्त हो जाता है, तो कहना न होगा कि रोगियों की प्रकृति मीठी औषधि के लिए ही होगी।

इसीलिए अग्नि पुराण ने भी ऊँचे स्वर से काव्य की उपादेयता का उद्घोष किया है—

नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा ।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा ।।

सर्वप्रथम इस संसार में प्रकृष्टसत्वसमनस्यूत मानव जीवन ही मिलना मुश्किल है, जन्मजन्मान्तरों के परिणत पवित्र संस्कारों के परिपाकजन्य पुण्यसञ्चय के द्वारा ही प्राणी मानव जीवन को प्राप्त करता है, उसमें भी

मानवता की सम्पादिका विद्या (शास्त्रज्ञान) को प्राप्त करना और भी कठिन है। अध्ययन भी एक प्रकार का तप माना जाता है, अनेक प्रकार के संयम नियमों का पालन कर कठिन परिश्रम से शास्त्रों का चिन्तन करते हुए विद्यार्थी विद्याधिष्ठात्री देवी सरस्वती की उपासना करता है, तब किसी प्रकार विद्वान् बनता है।

अतः विद्या भी सर्वसाधारण सुलभ नहीं है, इसलिए इसे दुर्लभ कहा है। किसी प्रकार विद्या प्राप्त भी हो जाय तो कवि बनना तो और भी कठिन है, साधारण वृत्त पाद तुक आदि का नियमानुसार पद्यबन्धन कार्य ही जब मुश्किल है, तो फिर कवित्वशक्ति (प्रतिभा) के विषय में तो कहना ही क्या, अर्थात्—कवित्वशक्ति तो पूर्वजन्म के असाधारण परिपक्व सुसंस्कारों के परिणामरूप कोई विचित्र ही प्रसाद है, जो जनसामान्य के लिए सुलभ नहीं है।

इस प्रसङ्ग में ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तक आनन्दवर्धनाचार्य की यह उक्ति सर्वथा युक्तियुक्त मालूम पड़ती है कि प्रतिभाशक्ति सम्पन्न महाकवि तो अङ्गुलिगणनीय दो तीन ज्यादा से ज्यादा पाँच छैः ही होंगे। **"येनाति विचित्र-कविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदास प्रभृतयो द्वित्राः प्रञ्चषा वा महाकवयो इति गण्यते।"**

कवि अपने लोकोत्तर प्रतिभा के द्वारा नीरस, प्रस्तरप्राय इस जगत् के पदार्थों को सरस तथा सजीव बना देता है, किञ्च अपनी अलौकिक कविता द्वारा ही प्रपञ्चाभिमुख मानव के भोगापवर्ग के निमित्त प्रवृत्ति निवृत्तिस्वरूप उभयविध मार्गों को प्रशस्त कर, परमपुरुषार्थ के उस महनीयप्रसाद के प्राङ्गणाभिमुख बना देता है। इसी हित को लक्ष्य करके मनीषियों ने काव्यमार्ग को साहित्य कहा है। इस शब्द की व्युत्पत्ति से भी यही अर्थ प्रतीत होता है—**यथा—"हितेन-निरतिशय-प्रेमास्पदेन रसेन सहितं इति। अथवा हितं-पिहितं-आवृत-सन्निहितं (सत्यं) यस्य तत्सहितं तस्य भावः साहित्यम् उक्तञ्चापि-हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य पिहितं मुखम्।"** इत्यादि।

यह साहित्य सदुपदेश का विधायक या शासक होने के कारण शास्त्र भी है, अतः यह भी काव्यशास्त्र या साहित्यशास्त्र के नाम से पुकारा जाता है। उपमेय—(**प्राप्तव्य परमपुरुषार्थ**) की प्राप्ति का मनोरम साधन होने के कारण ही संगीत-व साहित्य को वाणी की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती के दो स्तनों की तरह माना है, जिनसे अमृतवाङ्मधु निस्पन्दन होता रहता है, जिसका पान कर मनुष्य अमर हो जाता है—

संगीतमथ साहित्यं सरस्वत्याः स्तनद्वयम्।
एकमापातमधुरमन्यदालोचनामृतम् ॥१॥

संगीत जहाँ आपाततः श्रवणमात्र से रमणीय है, वहाँ साहित्य-आलोचना से चर्वित होकर आस्वादातिरेक समर्पण करता है।

सच भी यही है कि किसी साहित्य की सुन्दर कसौटी आलोचना ही है, बिना आलोचना के काव्य के न तो गुण का परिचय मिल सकता है, और न उसके दोषों का ही ठीक-ठीक पता चलता है। गुण दोषों के बिना जाने काव्य के वास्तविक आनन्द का आस्वादन नहीं हो सकता है। इसलिए काव्य के वैशिष्ट्य को समझने के लिए आलोचना की महती आवश्यकता है। आलोचक ही काव्य के मर्म को समझने में सफल होता है, कभी-कभी तो आलोचक कुछ ऐसे भावों को समझाता है, जो कवि की दृष्टि से भी ओझल रहते हैं।

इस प्रकार "आलोचना" भी संस्कृत साहित्य का एक महत्वपूर्ण अङ्ग है, आलोचक का पद भी कवि से कथमपि न्यून नहीं है। न संस्कृत साहित्य में इसकी उपेक्षा ही है, आलोचक की अपेक्षा रखते हुए संस्कृत साहित्य के मान्य आचार्य राजशेखर ने तो आलोचनाशास्त्र को वेद का सप्तम अङ्ग माना है।

"उपकारकत्वादलङ्कारः सप्तममङ्गम् इति यायावरीयः" ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद्वेदार्थानवगतिः। यथा—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।१।।

राजशेखर की सम्मति में बिना अलंकार शास्त्र के जाने वेद के अर्थ का ज्ञान अच्छी तरह हो ही नहीं सकता। इस प्रकार यह शास्त्र वेदाङ्ग के समान ही उपयोगी तथा उसी के समकक्ष माना जाता है।

उक्त "**द्वा सुपर्णा सयुजा**" इत्यादि मन्त्र में ईश्वर जीव और प्रकृति इन तीन अनादि अनन्त मौलिक तत्त्वों का वर्णन है। यहाँ इन तीन तत्त्वों का निरूपण अपने नामों से न कहकर "रूपकातिशयोक्ति" द्वारा दो पक्षियों और एक वृक्ष के रूप में प्रदर्शित किया गया है। प्रकृति एक विशाल पिप्पल वृक्ष के रूप में है। ईश्वर और जीव दोनों सुन्दर पंखों वाले और साथ-साथ रहने वाले मित्र रूप पक्षी हैं। वे दोनों पक्षी समानवृक्ष अर्थात् प्रकृति पर स्थित हैं। उन दोनों में से एक-जीव—उस वृक्ष के फलों को खाता है। अर्थात् जीवात्मा अपने कर्मों के अनुसार संसार में सुखदुःखरूप फलों का भोग करता है, और दूसरा पक्षी अर्थात् परमात्मा फलों का भोग न करता हुआ, संसार में चारों ओर अपने सौन्दर्य को प्रकाशित करता है। यही इस मन्त्र का भावार्थ है।

वैदिक ऋषियों की रूपकातिशयोक्ति की यह कल्पना अत्यन्त रमणीय है। इसके साथ "सुपर्णा सयुजा, सखाया, समानं, परिषष्वजाते", के सुन्दर अनुप्रास

ने तो सोने में सुगन्ध का काम किया है। "अनश्नन्नन्य: अभिचाकशीति" में नकारका अनुप्रास माधुर्य की अभिव्यञ्जना कर रहा है, "फल का भोग न करते हुए भी अपने तेज (सौन्दर्य) को प्रकाशित कर रहा है, यह "विभावना अलंकार का सुन्दर उदाहरण है, न केवल अलंकार ही उक्त मन्त्र को अलंकृत कर रहा है, अपितु सयुजा, सखाया ये विशेषण पदद्योत्य ध्वनि के भी अभिव्यञ्जक हैं। इन पदों से जीवात्मा तथा परमात्मा की नित्यता एवं सच्चिदरूपता की भी अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार के मन्त्रों में साहित्यशास्त्र के अनेक मौलिक तत्त्वों का सुन्दर समावेश हुआ है।

इसीलिए वेद से लेकर व्यवहार तक साहित्यशास्त्र या अलंकार शास्त्र भी उतना ही उपयोगी है, जितने अन्य शास्त्र। अत: राजशेखर की यह उक्ति भी अत्युक्ति नहीं है कि—काव्य सभी विद्याओं का विश्राम धाम है, कवि कल्पना प्रसूत होते हुए भी हितोपदेशक होने से वह शास्त्र है।

"सकल विद्यास्थानैकायतनं पञ्चदशं काव्यं विद्यास्थानम्" इति, यायावरीय:। गद्यपद्यमयत्वात् कविधर्मत्वात् हितोपदेशकत्वाच्च, तद्धि शास्त्राण्यनुधावति।"

अलङ्कार इस नाम का निदान—

आलोचना के लिए संस्कृत साहित्य में अनेक नामों का प्रचलन प्राचीन काल से होता आया है। इसका प्राचीनतम नाम "क्रियाकल्प" प्रतीत होता है, वात्स्यायन ने चौंसठ कलाओं के भीतर क्रियाकल्प को भी एक विशिष्ट कला माना है। क्रिया का अर्थ है काव्यग्रन्थ और कल्प का अर्थ है विधान।

इस प्रकार काव्य के विधायकशास्त्र होने से इसका यह नाम सार्थक ही है। पर यह नाम आगे प्रसिद्धि नहीं पा सका।

इसी प्रकार दशम शती के प्रारम्भ में राजशेखर ने अपनी "**काव्यमीमांसा**" में इसका नाम साहित्य विद्या रखा।

"पञ्चमी साहित्य विद्या" इति यायावरीय:, सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्द:" इति।

इसको चारों वेदों का सारभूत माना है। परन्तु "**साहित्यविद्या विधा**" यह नाम भी आगे प्रचलित न हो सका।

काव्य के सौन्दर्य का परीक्षण करने वाले इस आलोचनाशास्त्र का संस्कृत साहित्य में सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम "अलङ्कारशास्त्र" है, और इस आलोचना या काव्य की सौन्दर्य समीक्षा के अभिज्ञ को "आलङ्कारिक" कहा जाता है। यद्यपि यह शास्त्र केवल अलङ्कार पर ही विचार न करके, काव्य की सभी

विद्याओं, गुण-दोष-रस-रीति व ध्वनि आदि पर प्रकाश डालता है, अलङ्कार तो काव्य के अनेक शोभाधायक तत्वों में से अन्यतम है, वह भी स्वरूपाधायक न होकर, केवल उत्कर्षाधायक ही माना है, **"काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते"** दण्डी के ये वचन भी इस बात की पुष्टि करते हैं। पर यहाँ अलङ्कार शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में हुआ है। **"अलंक्रियते अनेन इति अलङ्कारः"** इस संकीर्ण अर्थ में नहीं हुआ है। अर्थात् काव्य केवल उत्कर्षाधायक तत्वों के लिए न होकर **"अलंक्रियते इति"** या **"अलङ्कृतिरलङ्कारः"** इस व्यापक अर्थ में यहाँ अलङ्कार शब्द का प्रयोग हुआ है। अर्थात् काव्य के यावत् सौन्दर्याधायक तत्व। अलङ्कार को इस व्यापक अर्थ में लाने का श्रेय आचार्य वामन को है। उनकी दृष्टि में अलंकार शब्द तथा अर्थ की बाह्य शोभा का वर्धक भूषण मात्र नहीं है, प्रत्युत काव्य का मूल तत्व है। वामन का प्रसिद्ध सूत्र है—**"सौन्दर्यमलङ्कारः ॥२॥"** अर्थात् सौन्दर्य ही अलङ्कार है। काव्य में सौन्दर्य के आधायक जितने भी तत्त्व हैं, उन सबका सामान्य अभिधान "अलङ्कार" है। फलतः "अलङ्कारशास्त्र" का अर्थ है, काव्य के सौन्दर्याधायक तत्त्वों का प्रतिपादक शास्त्र, इसी व्यापक रूप में इसका अर्थ ग्रहण करना चाहिए। अलंकार शब्द के सौन्दर्यपरक अर्थ पर टिप्पणी करते हुए काव्यालङ्कार सूत्रों के व्याख्याकार श्री गोपेन्द्र त्रिपुरहरभूपाल ने भी पूर्वोक्त पक्ष की ही पुष्टि की है। **"यद्यपि काव्यं ग्राह्यं सौन्दर्यात्, तद्दोषगुणालङ्कारहानोपादानाभ्याम् इति विन्यासाऽन्तरे लाघवं भवति तथापि योऽयमलङ्कारः काव्यग्रहणहेतुत्वेनोपन्यस्यते तद्व्युत्पादकत्वाच्छास्त्रमप्यलङ्कारनाम्ना व्यपदिश्यते, इति शास्त्रस्यालङ्कारत्वेन प्रसिद्धिः प्रतिष्ठिता स्यादिति सूचयितुं विन्यासः कृतः—काव्यंग्राह्यम् अलङ्कारादिति ॥२॥**

अथवा—"प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति" इस न्याय के अनुसार रस-रीति-दोष-गुणों का प्रतिपादक होने पर भी यमक उपमादि अलङ्कारों की प्रचुरता के कारण इन्हीं से काव्य का व्यवहार होने लगा, अर्थात् अलङ्कारों की प्रधानता के कारण उस समय अलङ्कार ही काव्य व्यवहार के प्रयोजक हो गये, **"काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्"** इस ध्वनिकार की उक्ति से भी इस बात की पुष्टि होती है कि अलङ्कारों में ही काव्य व्यवहार की प्रयोजकता है।

साहित्यशास्त्र के प्रारम्भिक युग में अलङ्कार ही काव्य का सर्वस्व माना जाता था, यद्यपि ध्वन्यमान अर्थ, रस, रीति आदि भी काव्य के जीवनाधायक तत्व विद्यमान थे, परन्तु आनन्दवर्धनाचार्य के पहले उन तत्त्वों की स्पष्ट व्याख्या नहीं थी, अतः भट्टोद्भट्ट, रुद्रट, दण्डी आदि प्राचीन आलङ्कारिक ध्वन्यमान अर्थ को भी वाच्य का उपस्कारक मानकर, काव्य में अलङ्कारों की

ही प्रधानता मानते थे, और अलङ्कार तत्त्व को ही काव्य व्यवहार का प्रयोजक मानते थे। जब अलङ्कार ही एकमात्र काव्य का आश्रय है तो उसके विवेचक या प्रतिपादकशास्त्र का नाम भी "अलङ्कारशास्त्र" होना स्वाभाविक है।

साहित्यशास्त्र के इतिहास में करीव नवम शतक के मध्य भाग का काल स्वर्णाक्षरों से उल्लेखनीय है। साहित्य की इस शुभ वेला में अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। काव्य की गहरी मीमांसा करने पर ध्वनि तत्त्व का आविर्भाव हुआ, इसका श्रेय आचार्य आनन्दवर्धन को है। ये ही ध्वनि मार्ग के प्रवर्तक हैं। इन्होंने ध्वनि तत्व की प्रतिष्ठा करके काव्य क्षेत्र में एक नई धारा बहाई, जो ध्वनि सम्प्रदाय के नाम से प्रख्यात है, और इसका तात्त्विक विवेचन इन्होंने अपने युगान्तरकारी ग्रन्थ "ध्वन्यालोक" में किया, इसी ग्रन्थ में इन्होंने बड़े संरम्भ के साथ प्रतीयमान अर्थ की काव्य में प्रथक् सत्ता सिद्ध की।

आनन्दवर्धन का महत्त्व इसी में है कि उन्होंने अपनी अलौकिक मनीषा के द्वारा काव्य में प्रतीयमान तत्व को काव्याङ्गों से पृथक् स्वतन्त्र कर दिया। यहीं से काव्याङ्गों का उचित मूल्याङ्कन हुआ, विशेषत: इस अलङ्कार व गुणों को उनके उचित स्थान पर प्रतिष्ठित किया, अब काव्य में अलङ्कार व अलङ्कार्य के विषय में भी विशेष विवेचन होने लगा। फलत: अलङ्कार्य को काव्यसाम्राज्य के उच्च सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर अलङ्कारों को उनका उत्कर्षाधायक अङ्ग माना गया।

आलोचक धीरे-धीरे काव्य के इस महत्त्वपूर्ण तत्त्व से परिचित होने लगे। ध्वनि की काव्य की आत्मा के रूप में उद्घोषणा हो गई।

तदनन्तर ध्वनि के व्याख्याता आचार्य अभिनव गुप्त ने अपनी प्रौढ व्याख्या द्वारा ध्वनि प्रासाद की चहारदीवारी को मजबूत किया, मम्मट ने अपने "काव्यप्रकाश" में सदा के लिए इस सिद्धान्त की पूर्णरूप से स्थापना की, इसी से इनको ध्वनि प्रस्थापक परमाचार्य की पदवी मिली।

सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ हैं, जिनकी कृति "रसगङ्गाधर" ध्वनि सम्प्रदाय का नितान्त परिपोषक प्रौढ ग्रन्थ है। वे आनन्दवर्धन के सिद्धान्त से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने ध्वनिकार को आलङ्कारिकों की सरणि का व्यवस्थापक होने का गौरव प्रदान किया है।

"ध्वनिकृतामालङ्कारिक सरणि-व्यवस्थापकत्वात् ।"

इस प्रकार उत्तरोत्तर साहित्य क्षेत्र में गहरी छान-बीन होने लगी। रस, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि अनेक काव्य तत्त्वों का उदय होने लगा। ध्वनि

वक्रोक्ति आदि के विषय में एक तरफ से विरोध भी चलता रहा, पर रस काव्य की आत्मा है, इसके विषय में किसी की विप्रतिपत्ति नहीं थी। अष्टम उल्लास में मम्मट ने भी "ये रसस्याङ्गिनो धर्मा" कहकर गुण और अलङ्कारों को साक्षात् और परम्परया रस के उत्कर्षक माना, और रस को काव्य की आत्मा माना। इस प्रकार तात्विक दृष्टि से तो इस शास्त्र का नाम रसशास्त्र या ध्वनिशास्त्र होना चाहिए था, परन्तु पूर्व प्रचार या प्रसिद्धि के कारण अथवा काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में अलङ्कारों को प्रचुर परिमाण या व्याख्यान को देखते हुए "प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति" इस न्याय से इस शास्त्र का नाम "अलङ्कारशास्त्र" पड़ा।

अर्थात् साहित्यशास्त्र के आद्ययुग में अलङ्कारों की ही महिमा व्याप्त थी। इसका "अलङ्कारशास्त्र" इस नामकरण का यही रहस्य है।

काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट :

संस्कृत साहित्यशास्त्र की समाराधना में जिन यशस्वी मनीषियों ने अपना जीवन समर्पण किया है, उनमें आचार्य मम्मट का नाम भी उल्लेखनीय है। भरत से लेकर भोजराज तक लगभग एक हजार वर्ष के बीच में काव्यशास्त्र पर जितना चिन्तन-मनन व ऊहापोहपूर्ण समालोचन हुआ था, उन सभी साहित्य बिम्बों का संक्षेप में प्रतिबिम्ब हमें आचार्य मम्मट की कृति काव्यप्रकाश में स्पष्ट रूप में मिल जाता है। इतने लम्बे अरसे में साहित्य-समालोचना के क्षेत्र में विभिन्न दृष्टिकोणों से जितना मन्थन हुआ था, उसका साररूप नवनीत काव्यप्रकाश है। मम्मट का कार्य उन मधुमक्खियों की तरह है, जो निरन्तर अनेक उद्यानों के पुष्पों से परिश्रमपूर्वक मधुचयन कर, पुनः उस मधु को अपने छत्ते में सजाकर रख देती है। मम्मट ने विभिन्न आचार्यों की काव्यवाटिकाओं के पुष्पों में—शब्द-अर्थ-दोष-गुणालङ्कारों का परिशीलन कर—"तददोषौशब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृतीपुनः क्वाऽपि" तत्तत् पुष्पों में बिखरे हुए इन मधुबिन्दुओं को कलात्मक ढंग से दश उल्लासों में संभाला है, तथा सुरक्षित रखा।

इधर नवम शताब्दी के मध्य भाग में ध्वनि सिद्धान्त की काव्य क्षेत्र में पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी, काव्यालोचन में अलङ्कार्य तथा अलङ्कार का यथावत् विभाग कर दिया गया, गुण व अलङ्कारों का भी परस्पर विवेकपूर्ण विभाग हो चुका था, गुण काव्यात्मा रस के नित्य धर्म तथा आभ्यन्तर और अलङ्कार रस के अनित्यधर्म व बाह्य शोभाधायक तत्व माने गये। ये दोनों ही साक्षात् और परम्परया काव्यात्मा के उपस्कारक माने गये।

ध्वनि सिद्धान्त की इस प्रकार व्यापक व्यवस्था होने पर भी, कुछ कश्मीर के मान्य आलङ्कारिकों को यह सिद्धान्त सर्वतोभावेन मान्य नहीं

हुआ, इस आन्दोलन के सर्वप्रथम नेता वक्रोक्तिसम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य कुन्तक थे। इन्होंने अपनी मौलिक प्रतिभा व प्रखर मेधा के द्वारा काव्य के मूल सिद्धान्तों का सर्वथा नवीनरूप में पुनराख्यान किया, और ध्वनिसिद्धान्त के उद्भावक आनन्दवर्धन की सार्वभौम प्रतिष्ठा को ललकारा—

"निर्मूलत्वादेव तयोर्भावाभावयोरिव न कथंचिदपि साम्योपपत्तिरित्यलमनुचितविषयचर्वणाचातुर्यचापल्येन ।"

अर्थात्—भाव और अभाव के समान उन दोनों **"क्षिप्तो हस्तावलग्नः"** इत्यादि पद्य में (कामी तथा शराग्नि के सादृश्य) के निर्मूल होने से उन दोनों के साम्य का किसी प्रकार भी उपादान नहीं हो सकता। इसलिए अनुचित विषय के समर्थन में चातुर्य दिखलाने का (ध्वन्यालोककार) का प्रयत्न व्यर्थ है। इसी साहसपूर्ण मौलिक विवेचन के कारण कुन्तक का वक्रोक्ति सिद्धान्त केवल सिद्धान्त न रहकर सम्प्रदाय बन गया। पर ध्वनिवादी आचार्यों ने आगे इस पर विशेष ध्यान न देकर केवल **"वक्रोक्तेरलङ्काररूपत्वात्"** कह कर ही सन्तोष कर लिया। इसके बाद ग्यारहवीं शती के मध्य में कश्मीर निवासी आचार्य महिमभट्ट के द्वारा ध्वनि का प्रबल विरोध हुआ। महिमभट्ट मूलतः नैय्यायिक थे, इन्होंने "व्यक्तिविवेक" नामक अपने प्रौढ ग्रन्थ में ध्वनि तथा व्यञ्जनावृत्ति का बड़े जोरदार शब्दों में खण्डन किया। इनका कहना था कि ध्वनि नामक कोई पृथक् वस्तु नहीं है, अपितु अनुमान का ही एक प्रकार है। इसी की सिद्धि के लिए इन्होंने इस ग्रन्थ में अपने उत्कट पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है। मङ्गलाचरण में ही वे ग्रन्थ निर्माण का उद्देश्य बतलाते हुए लिखते हैं कि—

अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम् ।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम् ॥१॥

सभी प्रकार की ध्वनियों का अनुमान में ही अन्तर्भाव दिखलाने के लिए "महिमा नामक" आचार्य परा वाणी को प्रणाम कर व्यक्तिविवेक (नामक ग्रन्थ) की रचना करते हैं।

इन्होंने आनन्दवर्धनाचार्य के ध्वनि लक्षण का प्रतिपद खण्डन कर यह दिखलाने की चेष्टा की है कि यह ध्वनि का लक्षण तो बन ही नहीं सकता है, अपितु विचारपूर्वक देखा जाय तो, यह अनुमान में ही सङ्गत होता है— **"एतच्च विविच्यमानमनुमानस्यैव सङ्गच्छते नान्यस्य"** (व्यक्तिविवेक)। इस प्रकार ध्वनि के सभी प्रकारों का प्रौढ तर्कों द्वारा खण्डन कर, तृतीय विमर्श में **"ध्वन्यालोक"** के ध्वनि सिद्धान्त की कठोर समीक्षा करता हुआ, लगभग चालीस उदाहरणों की परीक्षा कर, उन्हें अनुमान में ही गतार्थ कर दिया।

सचमुच अपनी प्रौढ प्रतिभा से महिमभट्ट ने एक बार तो ध्वनि सिद्धान्त को सदा के लिए मिटा देना चाहा, और ध्वनि सिद्धान्त के स्थान में **अनुमति-वाद** को सुप्रतिष्ठित कर देना था।

ध्वनि की प्रतिष्ठा की स्थापना का यह सारा भार मम्मट जैसे महिमाशाली आचार्य पर था, मम्मट ने अनुमितिवादी तथा अन्य ध्वनि-विरोधियों का जब एक बार मुँहतोड़ उत्तर दे दिया, तो फिर ध्वनि के विषय में आगे किसी को विरोध करने का साहस नहीं हुआ। आचार्य मम्मट के कड़े हाथों से ध्वनि सम्प्रदाय की सुप्रतिष्ठा हुई। इसलिए इन्हें ध्वनि प्रस्थापन परमाचार्य की उपाधि से विभूषित किया गया।

मम्मट की कृति

अलङ्कारशास्त्र के क्षेत्र में "काव्यप्रकाश" मम्मट की सर्वोत्कृष्ट कृति मानी जाती है, जिसमें समग्र काव्य तत्त्वों का समावेश किया गया है। शुद्ध शक्ति के विषय में इनका एक अन्य ग्रन्थ भी मिलता है। जिसका नाम "शब्दव्यापारविचार" है। इस ग्रन्थ का विषय प्रायः काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास से गतार्थ हो जाता है।

भामह का "**शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्**" वाला काव्यलक्षण काव्यप्रकाश में अधिक विशद, परिष्कृत तथा प्राञ्जल मालूम पड़ता है। भामह व दण्डी ने न शब्दशक्तियों का विवेचन किया है, और न रस व ध्वनि का ही प्रतिपादन किया, इसलिए वे आज अलङ्कारशास्त्र की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते, और विषय प्रतिपादन की दृष्टि से अपूर्ण है, मम्मट ने भामह व दण्डी की इस कमी को समझा, और अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यप्रकाश में इन सब विषयों का समावेश किया।

यह ग्रन्थ तीन अंशों में विभक्त है **कारिका**, वृत्ति, तथा उदाहरण, कारिका व वृत्ति के कर्ता एक ही हैं, कारिकायें स्वयं मम्मट विरचित हैं, और वृत्तिमात्र भी जिसमें कारिका या सूत्रों की व्याख्या, विषय के विशद विवेचन के लिए है। उदाहरण स्वयं मम्मट के नहीं है, वे अन्य काव्यग्रन्थों से लिए गये हैं। कहीं-कहीं भरत के सूत्रों का भी समावेश किया गया है, "**यथा—विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः इति**" पर जहाँ भी भरत के नाट्यशास्त्र से सूत्र लिये गये हैं, वहाँ "**उक्तं हि भरतेन**" कहकर उनका निर्देश भी किया गया है।

कारिका तथा वृत्तिविषयक विवाद—

काव्यप्रकाश के कारिका तथा वृत्ति के विषय में बहुत से विद्वानों का मत एक नहीं है। कुछ लोग कारिका तथा वृत्ति दोनों के निर्माता पृथक्-पृथक्

मानते हैं। ये लोग कारिका भाग के निर्माता भरत को मानते हैं, और वृत्ति-भाग मम्मट द्वारा विरचित मानते हैं।

यह मत बङ्गदेशीय विद्वानों का है, जिनमें साहित्यकौमुदी के टीकाकार श्री विद्याभूषण व काव्यप्रकाश के आदर्श टीकाकार श्री महेश्वर हैं। विद्याभूषण ने अपनी साहित्य कौमुदी में दो बार इस बात का उल्लेख किया है—

मम्मटाद्युक्तिमाश्रित्य मितां साहित्यकौमुदीम्।
वृत्तिं भरतसूत्राणां श्रीविद्याभूषणो व्यधात्॥

इसमें विद्याभूषण ने "काव्यप्रकाश" के सूत्रों को भरत सूत्र कहा है। दूसरी जगह उन्होंने फिर लिखा है—

"सूत्राणां भरतमुनीशवर्णितानां वृत्तीनां मितवपुषां कृतौ ममास्याम्।"

इसी प्रकार काव्यप्रकाश के आदर्श व्याख्या के निर्माता महेश्वर भट्टाचार्य ने भी वृत्तिभाग को ही मम्मट की कृति माना है। कारिका भरतनिर्मित मानी है। उन्होंने **"ग्रन्थकृत् परामृशति"** इत्यादि उद्धरण देते हुए अपनी आदर्श टीका में लिखा है—**"ग्रन्थकृच्चात्र कारिकाकृद् भरतमुनिरेव तदीय सहितामायासो कारिकाणां दर्शनात्। न तु वृत्तिकृदेव कारिकाकृत, परामृशतीत्यादिषु सर्वत्र नामयोगोचित् प्रथम पुरुष निर्देशस्वरसात्, अन्यथाऽस्मद् योगोचितोत्तम पुरुष एव निर्दिश्येत।"**

इससे प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार मम्मट जिन कारिकाओं की व्याख्या करने जा रहे हैं, उनका बनाने वाला कोई भिन्न भरत मुनि है, जिसके लिए परामृशति यह प्रथम पुरुष का प्रयोग किया है। अन्यथा यदि वे अपनी बनायी हुई कारिका की वृति लिखते तो प्रथम पुरुष का प्रयोग नहीं करते। इससे यही सिद्ध होता है कि कारिका मम्मट की न होकर भरत की है।

कारिका तथा वृत्तिभाग के भिन्न कर्तृत्व खण्डन—

पूर्वपक्षियों में कारिकाकार तथा वृत्तिकार को भिन्न सिद्ध करने के लिए जो युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं, वे विचार करने पर निस्सार प्रतीत होती हैं। काव्यप्रकाश के आरम्भ में आये हुए **"समुचितेष्ट देवतां ग्रन्थकृत् परामृशति"** इस प्रथम पुरुष के प्रयोग के आधार पर सूत्र या कारिकाभाग को वृत्तिकार से भिन्न की कृति सिद्ध करने का जो उपक्रम किया गया है, वह उपहास्यास्पद ही है। क्योंकि ग्रन्थों में इस प्रकार के अवसरों पर अपने लिए प्रथम पुरुष के प्रयोग की शैली तो संस्कृत साहित्य की बहुत-समाहत तथा बहुत प्रचलित सामान्य शैली है। अधिकांश लोग ऐसे प्रसङ्गों में प्रथम पुरुष का ही प्रयोग

करते हैं। जैसे—साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ ने इसी प्रकार का प्रयोग कर "वाग्देवताया: साम्मुख्यमाधत्ते" लिखा है।

"नागेश: कुरुते सुधी:" में नागेश ने भी प्रथम पुरुष का ही प्रयोग किया है। संस्कृत साहित्य के ग्रन्थकारों की तो यह एक अलङ्कृत् शैली है।

आचार्य कुन्तक ने इसे पुरुष वैचित्र्य प्रयुक्त वक्रत्व कहा है—"पुरुष वैचित्र्यविहितं वक्रत्वं विद्यते—यत्र प्रत्यक्तापरभावविपर्यासं प्रयुञ्जते कवय: काव्यवैचित्र्यार्थं युष्मदि अस्मदि वा प्रयोक्तव्ये प्रातिपादिकमात्रं निबध्नन्ति—यथा—अस्मदभाग्यविपर्ययाद्यदि परं देवो न जानाति तम्॥

अत्र त्वं न जानासीति वक्तव्ये वैचित्र्याय "देवो न जानाति" इत्युक्तम्॥

अर्थात्—पुरुष वैचित्र्यवक्रत्वं वहाँ होता है, जहाँ प्रथम पुरुष का मध्यम अथवा उत्तम पुरुष रूप अन्य के साथ विपर्याय का कवि लोग प्रयोग करते हैं। तात्पर्य यह है कि काव्य के वैचित्र्य के लिए (मध्यम पुरुष बोधक) युष्मद् शब्द अथवा (उत्तम पुरुष बोधक) अस्मद् शब्द के प्रयोग करने के स्थान पर प्रातिपदिकमात्र (प्रथम पुरुष) का प्रयोग करते हैं।

जैसे—यदि आप (रावण) उस (लोकप्रसिद्ध रामचन्द्र) को नहीं जानते हैं; (यह अभिमानवश कहते हैं) तो वह हमारे (लङ्कावासियों के) दुर्भाग्य से ही है। अर्थात्—हमारे दुर्भाग्य का सूचक है।

यहाँ "त्वं न जानासि" इसके स्थान पर "देवो न जानाति" यह प्रथम पुरुष प्रातिपदिकमात्र का प्रयोग किया गया है।

इसी प्रकार व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने भी इसे गुण ही माना है - उनका कहना है कि—"यस्तु क्वचित् कविभि: प्रयुज्यमानो दृश्यते स कर्तृत्व-व्यत्यासो नाम गुण एव न दोष:।"

कहीं-कहीं कवियों के द्वारा प्रयुक्त यह कर्तृत्वव्यत्यास नाम प्रक्रम भेद भी गुण ही होता है।

यदाह—जैसा कि वहीं कहा भी है—

प्रकृतमपि यत्र हित्वा कर्तृत्वं युष्मदस्मदर्थस्य।
चारुत्वायान्यन्नारोप्येत गुण: स तु न दोष:॥

अत: इन सब प्रमाणों के आधारों पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वृत्ति तथा कारिका भाग के कर्ता एक ही हैं। यदि मम्मद केवल वृत्तिभाग के ही रचयिता होते तो वे अपने वृत्ति ग्रन्थ के आरम्भ में अवश्य मङ्गलाचरण करते यह सब नहीं किया।

अतः मूल का मङ्गलाचरण ही वृत्तिभाग का भी मङ्गलाचरण है। इसलिए दोनों भागों को मम्मटाचार्य की ही कृति मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

काव्यप्रकाश के कर्ता के रूप में साधारणतः मम्मट ही प्रसिद्ध है। किन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ निर्माता वे नहीं हैं, इसमें मम्मट के अतिरिक्त कश्मीर के एक दूसरे विद्वान् का भी इसके समाप्ति करने में हाथ है। दूसरे विद्वान् का नाम "अल्लट" है। अधिकांश टीकाकारों का भी यही मत है। काव्यप्रकाश के अन्त में एक श्लोक दिया गया है। जिससे इस ग्रन्थ की समन्वयात्मक रचना प्रतीत होती है।

इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोऽप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत् ।
न तद्विचित्रं यदमुत्र सम्यग् विनिर्मिता सङ्घटनैव हेतुः ॥

काव्यप्रकाश के प्राचीन टीकाकार माणिक्यचन्द्र ने भी इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

"अथ चाऽयं ग्रन्थोऽन्येनारब्धोऽपरेण च समापित इति द्विखण्डोऽपि सङ्घटनावशादखण्डायते।"

तात्पर्य यह है कि—किसी कारणवश मम्मटाचार्य इस ग्रन्थ को समाप्त न कर सके तब दूसरे विद्वान् ने इसे पूर्ण किया। परन्तु टीकाकारों ने यह स्पष्ट निर्देश नहीं किया कि कितना अंश मम्मटाचार्य का है और कितने अंश की पूर्ति दूसरे विद्वान् ने की है, और वह दूसरा विद्वान् कौन है जिसने शेष भाग की पूर्ति की है। इन दोनों बातों का स्पष्ट सङ्केत राजनक आनन्द की निदर्शना टीका में मिलता है, जो इस प्रकार है—

कृतः श्रीमम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः ।
ग्रन्थ सम्पूरितः शेषो विधायाल्लटसूरिणा ॥१॥

स्पष्ट है कि मम्मटाचार्य ने परिकर अलङ्कार पर्यन्त ही काव्यप्रकाश ग्रन्थ की रचना की है, उसके बाद ग्रन्थ का अवशिष्ट अंश "अल्लट" नाम के विद्वान् ने पूर्ण किया। इसी प्रकार की घटना "कादम्बरी" ग्रन्थ के विषय में भी हुई है। वाणभट्ट कादम्बरी के केवल पूर्वार्धभाग की ही रचना कर सके थे। उसके बाद उत्तरार्ध भाग की रचना उनके सुयोग्य पुत्र पुलिन्दभट्ट ने की थी। इसी प्रकार मम्मटाचार्य के इस काव्यप्रकाश की समाप्ति भी अल्लट या अलकसुरि ने की।

इस ग्रन्थ में दश उल्लास हैं, जिनमें क्रमशः (१) काव्यस्वरूप, (२) शब्दशक्तिविवेचन (३) शब्दार्थव्यञ्जकता का विवेचन (४) रस व ध्वनि

भेदों का वर्णन (५) व्यञ्जना स्थापना (६) शब्दार्थचित्रनिरूपण (७) दोषों का व्याख्यान (८) गुणविवेचन (९) शब्दालङ्कार निर्णय (१०) अर्थालङ्कार निर्णय।

इन दश उल्लासों में प्रायः काव्य के सभी तत्वों का समावेश हो जाता है।

काव्यप्रकाश की टीका सम्पति—

टीका सम्पत्ति की दृष्टि से काव्यप्रकाश एक सौभाग्यशाली ग्रन्थ है, श्रीमद्भगवद्गीता को छोड़कर संस्कृत साहित्य में शायद ही कोई दूसरा ग्रन्थ हो जिस पर इतनी टीका लिखी गई हो। इसमें इसकी दुरुहता ही कारण है, प्राचीन आलङ्कारिकों में भामह, दण्डी, वामन, भोज आदि के ग्रन्थ प्रसादगुण-मण्डित प्राञ्जल प्राय सूक्ष्मविवेचनरहित थे।

वे अपने प्रकृतविषय के प्रतिपादन में समर्थ थे। साहित्य के केवल शोभाधायक बाह्य तत्त्वों के प्रतिपादन में निर्विवाद उनका उत्कर्ष था। मम्मट के बाद भी पण्डितराज जगन्नाथ का रस गङ्गाधर ध्वनिप्रस्थान का एक प्रौढ तथा उत्कृष्ट ग्रन्थ है इसमें सन्देह नहीं है कि पण्डितराज ने प्रायः सभी विषयों को अपनी प्रौढ प्रतिभा से प्रकाशित किया है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुसन्धानपूर्वक पदार्थों का प्रतिपादन किया है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं, केवल एक ही दोष है, वह है नव्यन्याय की शैली का अनुसरण। वस्तुतः यह दोष भी ग्रन्थकार पण्डितराज का अपना दोष नहीं है, यह तो उस वादयुग का दोष या गुण है जिसके बिना पाण्डित्य का रथ एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता है। फिर दूसरा दायित्व पण्डितराज पर यह था कि साहित्य के क्षेत्र में बढ़ती हुई निरर्गलता का नियन्त्रण करना था, इसके लिए ही शक्त, परिमार्जित व नपी-तुली भाषा की आवश्यकता थी। अतः उस युग की परिस्थिति को देखते हुए पण्डितराज का यह दोष न होकर गुण या भूषण ही कहना चाहिए।

मम्मटाचार्य का यह काव्यप्रकाश तो सूक्ष्म विषय की विवेचना में निःसन्देह उत्कृष्ट है, परन्तु किसी-किसी अंश में यह काफी जटिल भी हो गया है। जिसका अभिप्राय सामान्य तो क्या प्रौढ पण्डित भी सहसा अवगत नहीं कर पाते। टीकाकारों का भी परस्पर किसी अंश विशेष में मतभेद मालूम पड़ता है। एक टीकाकार यदि किसी पंक्ति का एक अर्थ करता है तो दूसरा टीकाकार कुछ दूसरा ही अर्थ कर देता है। यही कारण है इसकी टीकाओं की प्रचुरता का।

साहित्य के क्षेत्र में काव्यप्रकाश ही सबसे लोकप्रिय ग्रन्थ रहा। इस पर टीका लिखना पाण्डित्य की कसौटी समझा जाता था। अतः पण्डितमण्डली में

इसी ग्रन्थ का अध्ययन व अध्यापन होता था। साहित्य का पण्डित या साहित्य का विद्यार्थी काव्यप्रकाश पर अपनी पूर्ण प्रतिभा का व्ययकर प्रति पंक्ति के प्रतिपद का पदकृत्य करने में ही अपना सौभाग्य समझता था। काव्यप्रकाश के विषय में प्रसिद्ध है कि उसकी टीकायें घर-घर में विद्यमान हैं, किन्तु यह ग्रन्थ आज भी वैसा ही दुरूह बना हुआ है—**काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे सन्ति टीका: तथाप्येष ग्रन्थस्तथैव दुर्बोधः।** करीब इसकी सत्तर टीकायें हैं, जिनमें—माणिक्यचन्द्र, सोमेश्वर, विश्वनाथ कविचक्रवर्ती, प्रदीपकार, सुधासागरकार महेश्वर इत्यादि प्राचीनटीकाकारों की टीकायें प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार काव्यप्रकाश पर बारहवें शताब्दी से लेकर आज तक संस्कृत व हिन्दी में कुछ न कुछ टीका टिप्पणी आदि शोध कार्य चल ही रहा है। वामनाचार्यझलकीकर की संस्कृत टीका वर्तमान समय में सर्वाधिक प्रचर्चित टीका है इसमें सभी टीकाओं का संग्रह है! इसी तरह आचार्य विश्वेश्वर की काव्यप्रकाशदीपिका टीका भी सुन्दर है। जिसमें पूर्व टीकाओं के सभी सारगर्भित अंश संगृहीत हैं।

मम्मट का जन्मस्थान—

काव्यप्रकाश की "सुधासागर" टीका के निर्माता भीमसेन ने मम्मट के परिचय के रूप में कुछ पद्य लिखे हैं। उनसे यह प्रतीत होता है कि मम्मट "कश्मीरदेशीय" जैयट के पुत्र थे। इन्होंने वाराणसी में आकर विद्याध्ययन किया, पतञ्जलि प्रणीतमहाभाष्य के टीकाकार कैयट तथा चतुर्वेदभाष्यकार-उव्वट दोनों मम्मट के छोटे भाई थे। इस भाव का वर्णन भीमसेन ने अपने जिन श्लोकों में किया, वे इस प्रकार हैं—

शब्दब्रह्म सनातनं न विदितं शास्त्रैः क्वचित् केनचित्।
तद्देवो हि सरस्वती स्वयमभूत् काश्मीरदेशे पुमान् ॥१॥
श्रीमज्जैयटगेहिनीसुजठराज्जन्माप्य युग्मानुजः।
श्रीमन्मम्मटसंज्ञयाश्रिततनुं सारस्वतीं सूचयन् ॥२॥
मर्यादां किल पालयन् शिवपुरीं गत्वा प्रपठ्यादरात्।
शास्त्रं सर्वजनोपकाररसिकः साहित्यसूत्रं व्यधात् ॥३॥
तत्वृत्तिं च विरच्य गूढमकरोत् काव्यप्रकाशं स्फुटम्।
वैदग्ध्यैकनिदानमर्थिषु चतुर्वर्गप्रदं सेवनात् ॥४॥
कस्तस्य स्तुतिमाचरेत् कविरहो को वा गुणान् वेदितुम्।
शक्तः स्यात् किल मम्मटस्य भुवने वाग्देवतारूपिणः ॥५॥
श्रीमान् कैय्यट-औव्वटौ ह्यवरजौ यच्छात्रतामागतौ।
भाष्याब्धि निगमं यथाक्रममनुव्याख्याय सिद्धिं गतौ ॥६॥

इस विवरण के अनुसार मम्मट का जन्म जैय्यट गेहिनी के सुजठर से हुआ था। अर्थात्—ये जैय्यट के पुत्र थे, और श्रीमान् कैय्यट और औव्वट उनके छोटे भाई थे, जिन्होंने महाभाष्य तथा वेदों पर व्याख्या लिखी थी, इस प्रकार मम्मट के रूप में स्वयं सरस्वती देवी ने कश्मीर देश में पुरुष के रूप में अवतार लिया था, और साहित्यशास्त्र पर सूत्रों का निर्माण कर, उस पर स्वयं काव्यवृत्ति की रचना की थी।

किञ्च काव्यप्रकाश के पञ्चमोल्लास में "रुचिङ्कुरु" इस वाक्य के पदों के परिवर्तन से "चिङ्कु" इस तरह की असभ्यार्थ की प्रतीति होती है, अतः अन्विताभिधानवादी को भी व्यञ्जना वृत्ति माननी ही पड़ेगी। इस पर व्याख्याकार विश्वनाथ कविराज की जो टिप्पणी है उससे भी यही सिद्ध होता है कि मम्मट की जन्मभूमि कश्मीर ही है। "चिङ्कुपदं कश्मीरादिभाषाणामश्लीलार्थबोधकम्" [इति (विश्वनाथः)]।

कश्मीरी पण्डितों की परम्परागत प्रसिद्धि के अनुसार मम्मट "नैषधीय चरित महाकाव्य" के रचयिता महाकवि श्रीहर्ष के मामा माने जाते हैं। यह किंवदन्ती इस प्रकार है—कि श्री हर्ष जब "नैषधीयचरितमहाकाव्य" की रचना कर चुके तब उन्हें आनन्द का ठिकाना नहीं रहा। वे प्रफुल्लित होकर एकदम अपनी कृति की कुशलता की कामना के लिए अपने मामा मम्मट के घर जाकर अपने महाकाव्य नैषधीय चरित को अवलोकनार्थ मम्मट के सामने रख दिया, उन्हें आशा थी कि उनके मामा मम्मट इस उत्कृष्ट कृति पर कुछ शुभाशंसन अवश्य करेंगे।

जब मम्मट ने अपनी सरसरी नजर से नैषधीय चरित का अवलोकन किया तो बहुत खेद प्रकट किया कि काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास में दोषों का वर्णन है, उनके उदाहरण के लिए उनको जगह-जगह से दोषों का उदाहरण ढूंढ़ना पड़ा, उन्होंने स्पष्ट कहा कि यदि सप्तम उल्लास के बनने से पहले तुम मुझे यह पुस्तक दे देते तो हमें अन्यत्र परिश्रम नहीं करना पड़ता, सारे दोषों के उदाहरण हमें यहीं मिल जाते।

जैसे—निम्नलिखित श्लोक में—

तव वर्त्मनि वर्त्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः।
अपि साधय साधयेप्सितं स्मरणीया समये वयं वयः ॥२।२॥

हे वय, राजहंस! आपका मार्ग मंगलकारी हो, और आपका पुनः समागम शीघ्र हो, जाइये कार्य को कीजिए, और कार्यकाल में मेरा स्मरण कीजिए।

यह प्रकृत अर्थ, यहाँ थोड़े से उलट फेर से तव वर्त्म निवर्त्ततां शिवं, तुम्हारा रास्ता अमङ्गलकारी हो, स गमः त्वरितं मा भ्रस्तु, पुनः जल्दी यहाँ आना न हो। इत्यादि विरुद्धमतिकृत् दोष से युक्त है, आगे साधय इत्यादि पद अमङ्गलरूप अश्लीलदोष से भी दूषित हैं। अतः दोषप्रचुर यह आपका काव्य है।

वैसे भी मम्मट काव्य में अपने इस दोष दर्शन के लिए बहुत बदनाम हैं, वे कालिदास जैसे महाकवियों की कृति पर भी लाञ्छन लगाने में नहीं चूके। इसलिए इनको यवन कहा गया।

"काव्य प्रकाशो यवनो काव्याली क्व कुलाङ्गना" इत्यादि।

मम्मट का समय—

मम्मट का समय निर्धारण करने में अन्य कवियों व विद्वानों की तरह कठिनाई नहीं है। इन्होंने एकादश शतक के पूर्वार्द्ध में विद्यमान महामाहेश्वराचार्य श्रीअभिनव गुप्त के मत का सार संगृहीत किया है, और काव्यप्रकाश में अनेक स्थलों पर पद्मगुप्त परिमल के काव्य से उदाहरण दिये हैं। एक श्लोक में मम्मट ने धराधीश श्री भोजराज की दानशीलता का वर्णन किया है।

अतः भोजराज के बाद एकादश शताब्दी के उत्तरार्ध में मम्मट का समय निश्चित होता है। उधर इनके ग्रन्थ काव्यप्रकाश के प्रथम टीकाकार माणिक्यचन्द्र सूरि ने "संकेत" नामक टीका की रचना ११६० ई० में की है। फलतः इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध मानना युक्तियुक्त है।

अलङ्कारशास्त्र के सम्प्रदाय—

अलङ्कारशास्त्र के अध्ययन व अनुशीलन से यह भलीभांति मालूम हो जाता है कि उसमें अनेक सम्प्रदाय विद्यमान थे। आलङ्कारिकों के सामने प्रधान विषय था काव्य की आत्मा का विवेचन। वह कौन सा तत्त्व है, जिसकी सत्ता रहने पर काव्य में काव्यत्व विद्यमान रहता है। वह कौन सा पदार्थ है जो काव्य के अङ्गों में सबसे अधिक उपादेय है, और महत्वपूर्ण है।

इसी प्रश्न के उत्तर में अनेक सम्प्रदायों का उदय हुआ, कुछ लोग अलङ्कार को ही काव्य का प्राण मानते थे। कुछ लोग गुण या रीति को, दूसरे लोग ध्वनि को काव्य-सर्वस्व मानते हैं।

इस प्रकार काव्य की आत्मा की समीक्षा में मतभेद होने के कारण भिन्न-भिन्न शताब्दियों में नये-नये सम्प्रदायों की उत्पत्ति होती गई।

अलंकारसर्वस्व के टीकाकार समुद्रबन्ध ने इन विभिन्न सम्प्रदायों के उदय का जो कारण बतलाया है, वह बहुत ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है—"इह

विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन, व्यापारमुखेन, व्यङ्ग्य-मुखेन, वेति त्रयः पक्षा आद्येऽपि अलंकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि भणिति वैचित्र्येण, भोगकृत्त्वेन वेति द्वैविध्यम्। इति पञ्चसु पक्षेसु आद्यः,—उद्भटादिभिरङ्गीकृतः, द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पञ्चम आनन्दवर्धनाचार्येण।"

उनका कहना है कि विशिष्ट शब्द और अर्थ काव्य होते हैं। शब्द और अर्थ की यह विशिष्टता तीन प्रकार से संभव है—

(१) धर्म से।
(२) व्यापार से।
(३) व्यङ्ग्य से।

धर्म दो प्रकार के होते हैं। (१) नित्य और (२) अनित्य। अनित्यधर्म की सत्ता काव्य में उतनी अपेक्षित नहीं होती जितनी नित्य धर्म की। अनित्य धर्म हैं अलङ्कार, और नित्य धर्म का नाम है गुण। इस प्रकार धर्म मूलक विशिष्टता को प्रतिपादन करने वाले दो सम्प्रदाय हुए—(१) अलङ्कार सम्प्रदाय, (२) रीति या गुण सम्प्रदाय।

व्यापार मूलक वैशिष्ट्य भी दो प्रकार का होता है। (१) वक्रोक्ति, और (२) भोजकत्व। वक्रोक्ति-उक्ति वैचित्र्य का ही दूसरा नाम है। और इस वक्रोक्ति के द्वारा काव्य में चमत्कार मानने वाले आचार्य हैं कुन्तक। अतः उनका मत वक्रोक्ति सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है।

भोजकत्व व्यापार की कल्पना रस निरूपण के प्रसङ्ग में भट्टनायक ने की है। परन्तु इसे अलग न मानकर आचार्य भरत के रस सम्प्रदाय के भीतर ही अन्तर्भुक्त मानना उचित है।

शब्दार्थ में व्यंगमूलक वैशिष्ट्य मानने वाले आचार्य आनन्दवर्धन है, जिन्होंने ध्वनि को उत्तम काव्य स्वीकार किया है, आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के आरम्भ में ध्वनि विरोधी तीन मतों का उल्लेख किया है, जो उनसे प्राचीन हैं और काव्य में ध्वनि की स्वतन्त्र सत्ता मानने के विरोधी हैं—इन तीनों सम्प्रदायों के नाम इस प्रकार हैं। (१) अभाववादी (२) भक्तिवादी (३) अनिर्वचनीयतावादी। आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ ध्वन्यालोक की पहली कारिका में इन तीनों वादों का निर्देश करते हुए, सहृदयजनों के हृदय में प्रकाशमान ध्वनि तत्त्व का मिथ्या प्रवाद करने वाले निराकरण के लिए ही यह हमारा प्रयास है कहा हैं, जिससे कि सहृदयों की मानसिक चिन्ता दूर हो इसी अभिप्राय को उन्होंने श्लोक के अन्तिमपाद से अभिव्यक्त किया है।

"तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्॥१॥"

उक्त पद्य का संक्षेप में रहस्योद्घाटन करते हुए अभिनव गुप्ताचार्यपाद ने इन तीन ध्वन्यभाववादियों को क्रमशः भ्रान्त, सन्दिग्ध, तथा अज्ञ माना है। क्योंकि काव्य में जो विलकुल भी ध्वनि की सत्ता स्वीकार नहीं करते, वे देहात्मवादी चार्वाक के समान हैं। जैसे चार्वाक दर्शन देह से पृथक् आत्मा की सत्ता स्वीकार नहीं करता है, इसी प्रकार ये भी ध्वन्यभाववादी भी काव्य में आत्मभूत ध्वनि की सत्ता नहीं मानते हैं। अतः ये विपर्ययज्ञान युक्त हैं अर्थात् भ्रान्त हैं।

दूसरे भक्तिवादी यह तो जानते ही है कि वाच्यातिरिक्त भी कोई अर्थ हैं परन्तु अभिधा व लक्षणा व्यापार से भी अतिरिक्त कोई व्यापार है या नहीं इस विषय के सन्देह से मुक्त नहीं हैं। अतः ये सन्दिग्ध हैं। अन्तिम अनिर्वचनीयवादी यद्यपि भ्रान्त व सन्दिग्ध नहीं हैं, ये लोग ध्वनि के स्वरूप से अच्छी तरह परिचित भी हैं फिर भी ध्वनि लक्षण नहीं बना सकते, अतः इनमें अज्ञान की प्रधानता है।

इस प्रकार ध्वनि के विषय में जब लोगों में अनेक प्रकार का विपरीत ज्ञान या विरोध है तो सहृदयों के सन्तोष के लिए ध्वनि का विवेचन करना परमावश्यक हैं।

इन सब विरोधों के परिहार के लिए तथा साहित्य जगत् में ध्वनि की स्वतन्त्र सत्ता हेतु आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक की रचना की।

यहीं से ध्वनि सम्प्रदाय की पुनः स्थापना हुई। छठा सम्प्रदाय "औचित्य" सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र हैं। इनका उदय इन टीकाकारों के बाद में करीब एकादशशती के उत्तरार्ध में हुआ, अतः अलंकारसर्वस्व की टीका में इस सम्प्रदाय का उल्लेख नहीं है।

संस्कृत आलोचना शास्त्र के ये मुख्यतः छः सम्प्रदाय हैं—

सम्प्रदाय	आचार्य
(१) रस-सम्प्रदाय	भरत मुनि
(२) अलङ्कार सम्प्रदाय	भामह
(३) रीति सम्प्रदाय	वामन
(४) वक्रोक्ति सम्प्रदाय	कुन्तक
(५) ध्वनिसम्प्रदाय	आनन्दवर्धन
(६) औचित्य सम्प्रदाय	क्षेमेन्द्र

(१) रस सम्प्रदाय

रस शब्द का उल्लेख ऋग्वेद में सोम रस के अर्थ में हुआ है "दधानः कलशे रसम्" (६।६३।१३) तैत्तिरीय उपनिषद् में पुनः आनन्द के अर्थ में

भी इसका उल्लेख हुआ है, ("रसो वै सः रस ह्येवाऽयं लब्ध्वानन्दी भवति।" (११।७।१) इस प्रकार वैदिक साहित्य में रस के विषय में यत्र तत्र किञ्चित् चर्चा है।

इधर लौकिक साहित्य में भी सर्व प्रथम रसों का वर्णन हमें आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायण में मिलता है।

"रसः शृङ्गार करुणरौद्रवीरभयानकैः" (वा० का० २।९)

शृङ्गारादि आठ रसों का वर्णन यहाँ मिलता है, वैसे इस आदि काव्य को रस का ही विवर्त या परिणाम माना जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं है। महाकवि कालिदास की यह उक्ति भी इस बात को सुतरां पुष्ट करती है

निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः (१४।२७)

व्याध के द्वारा क्रौञ्च पक्षी के वध को जब मुनि ने देखा तो वे बहुत दुःखी हुए, वही हृदयस्थ मुनि का शोक श्लोक में परिणत हो गया।

अतः यह मानना पड़ता है कि आदि काव्य का उदय करुण रस से ही हुआ, इसीलिए रामायण करुण रस प्रधान आदि काव्य है इसको आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत में इस प्रकार कहा है—"रामायणे हि करुणो रसः स्वयंमादि कविना सूत्रितः, "शोकः श्लोकत्वमागतः" इत्येवं वादिना और महाभारत में शान्त रस को ही मुख्यतया विवक्षा का विषय माना है।

तिलों में तेल की तरह अङ्गनाओं में लावण्य की तरह यह रस भी महाकवियों के महाकाव्यों में व्याप्त हैं।

इसका शास्त्रीय विवेचन करने का श्रेय भरत को है। भरतमुनि ही इस सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता माने जाते हैं और उनका "नाट्यशास्त्र" रस सिद्धान्त का प्रतिपादक सर्व प्राचीन ग्रन्थ है।

भरत के नाट्य शास्त्र को ललित कलाओं का विश्वकोष कहना चाहिए, नाट्य विषय का ही नहीं, प्रत्युत आलोचना शास्त्र का, छन्दशास्त्र का, सङ्गीत का तथा अभिनय का भी यह आदि तथा प्रौढ ग्रन्थ है। इसकी लोकप्रियता का पता इसके भाष्यकारों के नाम से भी चल सकता है। इसके नौ भाष्यकार हैं। जिनका नाम नीचे दिया जाता है—

(१) उद्भट्ट (२) लोल्लट (३) शङ्कुक (४) भट्टनायक (५) राहुल (६) भट्ट यन्त्र (७) अभिनव गुप्त (८) कीर्तिधर (९) मातृगुप्त। इन सब में अभिनव गुप्त की प्रख्यात व्याख्या "अभिनव भारती" ही आज उपलब्ध है और इसी में उल्लिखित होने से अन्य टीकाकारों के अस्तित्व का पता चलता है। इन टीकाकारों में लोल्लट, शङ्कुक तथा भट्टनायक ने भरत

के रस सूत्र की विभिन्न व्याख्या की है, जिसका निर्देश अभिनव भारती में बहुश: किया गया है।

रस सम्प्रदाय के अनुसार काव्य में रस ही एकमात्र मुख्य तत्त्व है। भरत मुनि ने नाटकीय रस का ही निरूपण किया है इसीलिए रस को नाट्यरस की संज्ञा दी है। पिछले आलङ्कारिकों ने इसे श्रव्य काव्य का भी महनीय तत्त्व माना है। रस का उन्मेष ही नाट्य का तथा काव्य का चरम लक्ष्य है। इस तात्पर्य की सिद्धि के अभाव में काव्य नीरस, फीका तथा उद्वेगकर होता है। इसके उन्मीलन के निमित्त स्थायी तथा व्यभिचारी भाव-विभाव तथा अनुभाव का भी विश्लेषण बड़ी सूक्ष्मता के साथ यहाँ किया गया है। रस की संख्या के के विषय में भी मतभेद है। इन आठ रसों की सत्ता के विषय में किसी की भी विमति नहीं है। शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स तथा अद्भुत। शान्त रस नवम रस है जिसकी काव्य तथा नाट्य में सत्ता के विषय में आचार्यों में काफी मतभेद है। धनञ्जय शान्तरस को नाट्य में निषेध करते हैं, परतु अभिनव गुप्त नाट्य तथा श्रव्यकाव्य दोनों में इसकी सत्ता मानते हैं। रुद्रट ने "पेयान्" नामक रस को, विश्वनाथ कविराज ने वात्सल्य को, गौडीय वैष्णवों ने "मधुर रस" को इस श्रेणी में जोड़कर रसों की संख्या को बहुत ही बढ़ा दिया है।

साहित्य में रसमत का सर्वतोभावेन प्राधान्य है। ध्वनिवादी आचार्यों ने भी ध्वनि के त्रिविध प्रकारों में "रसध्वनि" को ही मुख्य तथा काव्य की आत्मा माना है। ध्वनि मुख्यतया तीन प्रकार की होती है—वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि तथा रसध्वनि। इन तीनों में अन्तिम मुख्यतम है।

भोजराज भी समस्त वाङ्मय को तीन भागों में बाँटते हैं—(१) स्वभावोक्ति, (२) वक्रोक्ति, (३) रसोक्ति।

इनमें अन्तिम का विशेष चमत्कार काव्य में होता है। विश्वनाथ कविराज ने रसात्मक काव्य को काव्य मानकर काव्य में रस के महत्त्व को स्वीकार किया है। अग्निपुराण की स्पष्ट उक्ति है—"**वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।**" काव्य में वक्रोक्ति से उत्पन्न चमत्कार के मुख्य होने पर भी रस ही उसका प्राण होता है। भरत ने "**न हि रसादृते कश्चिदर्थ: प्रवर्तते**" का सिद्धान्त प्रतिष्ठित कर रस को काव्य का मौलिक तत्त्व माना है। इस प्रकार रस सम्प्रदाय के अनेक आचार्य हुए जिनमें अनेक ध्वनि को भी विशेष महत्त्वशाली मानने के कारण ध्वनि सम्प्रदाय के भी अनुयायी हैं।

पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार रस सिद्धान्त की पूर्णरूपेण व्याख्या नहीं हो सकती है। क्योंकि भारतीय साहित्य में इसका अपना कुछ अलग ही महत्त्व

है, जिसका सम्बन्ध भारतीय दर्शन से है, जो आत्मानन्द सहोदर है, चिन्मय तथा प्रकाशस्वरूप है, अतः पाश्चात्य मनोविज्ञान की परिधि से परे की बात है। जब आधुनिक विज्ञान केवल मन तथा उसकी वृत्तियों के विवेचन तक ही सीमित है, तो आत्मस्थानीय रसास्वादजन्य अलौकिक अनुभूति की आशा करना तो दुराशामात्र है।

कहने का तात्पर्य यह है कि वेदान्त दर्शन के अनुसार आनन्द तीन प्रकार का होता है—(१) विषयानन्द, (२) ब्रह्मानन्द, (३) रसानन्द। विषयानन्द वासना पर अवलम्बित है, यह विषय चिन्तन से या विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाला लौकिक क्षणिक तथा वासनाओं की मलिनता के कारण सुखदुःखादि सांसारिक भावों के द्वन्द्व मे अभिभूत है। अतः यह सत्त्वप्रधान आनन्द न होकर आनन्दाभास है। आनन्द की उच्चतम कोटि है ब्रह्मानन्द, जिसके अन्तर्गत समस्त आनन्द सिमट कर एकत्र हो जाते है। रसानन्द भी करीब-करीब इसी आनन्द की कोटि में आता है। विषयानन्द के लिए जिस प्रकार वासना अपेक्षित है रसानन्द में उस जगह वासना की शुद्धि अपेक्षित है, अर्थात् भावों का उदात्तीकरण, भावों की अशुद्धि का कारण है, उसका व्यक्ति विशेष से सम्बन्ध, मेरी यह रति है इत्यादि जो परिमित प्रमाता का सम्बन्ध विशेष है वही हीनता तथा अशुद्धि का कारण है। इसी भावसंशोधन के लिए साहित्यशास्त्रियों ने रसनिष्पत्ति प्रक्रिया के लिए साधारणीकरण व्यापार की कल्पना की है, जिसकी सहायता से प्रमाता में अपरिमित भाव आ जाता है। वासना विषयविष से दूषित न होकर निष्काम भावना या उदात्तभावना से स्वच्छ हो जाती है। इसी दिशा में शनैः शनैः रत्यादि भाव से जो अज्ञानावरण से परिच्छिन्न थे वे व्यञ्जना व्यापार व साधारणीकरण व्यापार के सहयोग से अपरिच्छिन्न होते हुए सच्चिदानन्दघनस्वरूप रस को प्राप्त कर लेते हैं। इसी रस के विषय में भरत ने लिखा है—

"न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।"

अलङ्कार सम्प्रदाय

काव्य जगत् में अलङ्कारों का सर्वाधिक महत्त्व है, आपातत यही तत्त्व गुण व अलङ्कार ही काव्य के व्यावर्तक धर्म है। इसीलिए **"काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्"** इस आनन्दवर्धन की सूक्ति का आश्रय लेकर गुणालङ्कारादि से निरूपणीय काव्य को माना है। अर्थात् काव्य के काव्येतर से भेदज्ञान में साधन अलङ्कारादि ही हैं। **"काव्यं काव्येतराद् भिन्नं गुणालङ्कारादिमत्वात्"** यह अनुमानाकार है। कहने का तात्पर्य यह है कि काव्य में अलङ्कार की स्थिति अति आवश्यक है।

आचार्य मम्मट ने जब काव्य के लक्षण में अलङ्कारों का विधान विकल्प रूप से किया तो अलङ्कारवादियों को यह विकल्प असह्य सा प्रतीत हुआ। जयदेव का तो यहाँ तक कहना है कि जो विद्वान् अलङ्कार से हीन शब्द और अर्थ को काव्य मानता है, वह अग्नि को भी अनुष्ण (उष्णताहीन) क्यों नहीं मानता है ? जिस प्रकार अग्नि का उष्णतारहित होना असम्भव है, उसी प्रकार काव्य का अलङ्कार से रहित होना भी असम्भव है—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मात् अनुष्णमनलङ्कृती ॥१॥ (चन्द्रालोक)

इस सम्प्रदाय में अलङ्कार ही काव्य की आत्मा है।

अलङ्कार मत के प्रवर्तक आचार्य भामह हैं, इस मत के पोषक हैं भामह के टीकाकार उद्भट। दण्डी, रुद्रट एवं प्रतिहारेन्दुराज भी इसी मत के अनुयायी हैं। दण्डी के मत में काव्य के पोषक अंगों को भी अलङ्कार कहते हैं। रुद्रट् व प्रतिहारेन्द्रराज ने भी अपने ग्रन्थों में अलङ्कार को ही प्रधानता दी है।

रूय्यक की स्पष्ट सम्मति है कि प्राचीन आलंकारिकों के मत से अलंकार ही काव्य में प्रधान होते हैं।

अलंकारों का विकास धीरे-धीरे होता आया है। भरत के नाट्यशास्त्र में इन चार ही अलंकारों का निर्देश मिलता है—यमक, उपमा, रूपक व दीपक। साहित्य के मूलभूत अलंकार ये ही हैं, जिनमें पहला शब्दालङ्कार और तीन अर्थालङ्कार हैं। भरत के मत में यमक शब्दालंकार दस प्रकार का है, और उपमा के पाँच भेद होते हैं—प्रसंशा, निन्दा, कल्पिता, सदृशी तथा किञ्चित् सदृशी। रूपक तथा दीपक का एक-एक भेद होता है। इन्हीं चार अलङ्कारों से विकसित तथा वर्धित होकर अलंकारों की संख्या कुवलयानन्द में सवा सौ के ऊपर तक पहुँच गयी है।

कालक्रम के अनुसार अलंकारों की संख्या के समान उनके स्वरूप में भी पर्याप्त अन्तर पड़ता गया है।

भरत ने नाट्यशास्त्र (अध्याय १७) में ३६ प्रकार के लक्षणों का विवरण दिया है। बहुत से इन लक्षणों को परवर्ती आचार्यों ने अलंकार में सम्मिलित कर लिया, और इस प्रकार अलंकारों के विकास में इन लक्षणों का भी कम महत्त्व नहीं है। उदाहरणार्थ, हेतु, आशी, तथा लेश के विषय में परवर्ती आचार्यों की भिन्न-भिन्न सम्मितियाँ हैं। भामह हेतु तथा लेश को तो अलंकार नहीं मानते परन्तु आशी को अलंकार मानते हैं। दण्डी ने तीनों को अलंकार माना है। परवर्ती आचार्यों के विभिन्न मत हैं। अप्पय दीक्षित ने कुवलयानन्द

में हेतु तथा लेश को अलंकार माना है। इस प्रकार अलंकारों का विकास होता गया।

भारतीय आलंकारिकों ने अलंकारों के विभाजन के अवसर पर उनके मूल तत्त्वों पर भी विचार किया है। अलंकारों के विभाग के लिए उन्होंने कतिपय सिद्धान्त भी निश्चित किये हैं। इसका संकेत सर्वप्रथम रुद्रट् के काव्यालङ्कार में मिलता है। उन्होंने ही सबसे पहले औपम्य, वास्तव, अतिशय और श्लेश को अलंकारों के विभाजन का मूल कारण माना। यह विभाजन उतना वैज्ञानिक न होने पर भी एक मौलिक विचार की सूचना देता है। इस विषय में अलंकारसर्वस्व के कर्ता रूय्यक का निरूपण बड़ा ही युक्तियुक्त और वैज्ञानिक है। इन्होंने औपम्य, विरोध, लोकन्याय आदि को अलंकारों का मूल विभेदक तत्त्व मानकर अलंकारों का विभाजन सुन्दर समीक्षा के साथ किया है। इस सम्प्रदाय के प्राचीनत्व और महत्त्व का परिचय इसी घटना से लगता है कि इसी के नाम पर ही हमारा समस्त आलोचनाशास्त्र अलंकारशास्त्र के नाम से अभिहित किया जाता है।

महत्त्व

अलंकार सम्प्रदाय में रस की स्थिति विचारणीय है। अलंकार मत को मानने वाले आचार्यों को रस का तत्त्व अज्ञात नहीं था, परन्तु उन्होंने इसे स्वतन्त्र स्थान न देकर काव्य के प्राणभूत अलंकार का ही एक प्रकार माना है। रसवत्, प्रेयस्, उर्जस्वी तथा समाहित नामक अलंकारों के भीतर ही रस और भाव का समस्त विषय इन आलंकारिकों ने निविष्ट कर दिया। भामह को महाकाव्य में रसों की स्थिति मान्य है, दण्डी भी रस तत्त्व से परिचित हैं, और रसवत् अलंकार के भीतर इन्होंने आठों रसों और आठों स्थायी भावों का निर्देश कर दिया। वे माधुर्य गुण के अन्तर्गत भी रस का समावेश मानते हैं। अतः दण्डी को रसतत्त्व से अपरिचित नहीं माना जा सकता है। उद्भट ने भी रसवत् अलंकार के निरूपण के अवसर पर विभाव, संचारीभाव और स्थायीभाव जैसे पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख नहीं किया है, बल्कि रस के नव भेदों को भी स्वीकार किया है। रुद्रट भी काव्य में रस का सन्निवेश करने का उपदेश देते हैं। इन सब उल्लेखों का यही आशय है कि भामह, दण्डी, उद्भट तथा रुद्रट जैसे अलंकार सम्प्रदाय के मान्य आचार्य रसतत्त्व के महत्त्व से पर्याप्त परिचित हैं। भरत मुनि से पश्चाद्वर्ती होने से यह ऐतिहासिक दृष्टि से नितान्त उचित है।

परन्तु वे लोग उसे अलंकार का ही एकरूप मानते हैं। अलंकार उनकी दृष्टि में एक व्यापक तत्त्व है।

अलंकार और ध्वनि

इन आलंकारिकों को काव्य में प्रतीयमान अर्थ (ध्वनि) की भी सत्ता किसी न किसी रूप में अज्ञात न थी, रुय्यक का स्पष्ट मत है कि भामह तथा उद्भटप्रभृति अलंकारवादी आचार्यों ने प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) अर्थ को वाच्य का सहायक मानकर उसे अलंकार में ही अन्तर्भूत किया है। एकावली की टीका "तरला" में मल्लिनाथ ने भामह प्रभृति आचार्यों को ध्वनि के अभाव का प्रतिपादक आचार्य माना है, परन्तु उन्हें ध्वनि-अभाववादी मानना उचित नहीं प्रतीत होता। वे ध्वनि के सिद्धान्त से पूर्णतः परिचित हैं, वे प्रतीयमान अर्थ को न तो काव्य की आत्मा मानते हैं और न ध्वनि तथा गुणीभूत व्यङ्ग्य जैसे पदार्थों का अपने अलंकार ग्रन्थों में प्रयोग ही करते [*], परन्तु प्रतीयमान अर्थ से कथमपि अपरिचित नहीं हैं। पर्यायोक्त अलंकार के भीतर ध्वनि की कल्पना इन आलंकारिकों को स्पष्टतः मान्य है, समासोक्ति, आक्षेप आदि अलंकारों में भी द्वितीय अर्थ के रूप में प्रतीयमान प्रतीत होता है,

अलंकार सम्प्रदाय में प्रतीयमान अर्थ के विवेचन का अभाव रुद्रट को इतना खटका कि उन्होंने "भाव" नामक एक नवीन अलंकार की ही कल्पना कर ली। इसके दो भेद हैं जिनके उदाहरणों को मम्मट ने तथा अभिनव गुप्त ने प्रतीयमान अर्थ का द्योतक माना है, ऐसी दशा में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अलंकारवादी रुद्रट को व्यङ्ग्य का सिद्धान्त सर्वथा मान्य था, अन्तर इतना है कि वे इसे स्वतन्त्र रूप देने के पक्षपाती नहीं थे। प्रत्युत इसे वे अलंकार के भीतर गतार्थ मानते थे, दण्डी और भामह ने अलंकार का जो महत्व काव्य में स्वीकार किया है वह किसी न किसी मात्रा में पिछले युग तक चलता गया। ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि को महत्व देकर भी अलंकार के वर्णन में अपनी उदासीनता नहीं दिखलाई। ध्वनिवादी होते हुए भी मम्मट ने अपने ग्रन्थ काव्यप्रकाश में अलंकारों का जो सुन्दर तथा विस्तृत निरूपण किया है वह किसी भी अलंकारवादी आचार्य के वर्णन से कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

रीति सम्प्रदाय

रीति सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य वामन हैं। वामन ने काव्य में अलङ्कार की प्रधानता के स्थान पर रीति की प्रधानता का प्रतिपादन किया है,

"रीतिरात्मा काव्यस्य" यह उनका प्रमुख सिद्धान्त है, और पदों की विशिष्ट रचना को ही रीति कहते हैं—**"विशिष्टा पद-रचना-रीतिः**, (पदों की विशिष्ट रचना को ही रीति कहते हैं,) पदों में विशिष्टता गुणों के ही कारण उत्पन्न होती हैं, गुणों के अभाव में पद एक सामान्य रूप में ही

स्थित रहते हैं, अतः रीति गुणों के ही ऊपर अवलम्बित रहनेवाला काव्यतत्त्व है—"विशेषो गुणात्मा"। इसीलिए रीति सम्प्रदाय "गुण सम्प्रदाय" के नाम से भी पुकारा जाता है।

गुणों का सर्वप्रथम वर्णन भरत ने नाट्यशास्त्र में किया है, गुण संख्या में दश होते हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थ-व्यक्ति, उदारता तथा कान्ति, (ना०शा० १६।६८) रुद्रदामन् के गिरनार शिलालेख (१५० ई०) में भी माधुर्य, कान्ति तथा उदारता जैसे काव्यगुणों का उल्लेख पाया जाता है, भरत के द्वारा निर्दिष्ट इन गुणों को दण्डी ने स्वीकार किया है, परन्तु भरत से उनकी व्याख्या में अनेक स्थलों में अन्तर है, गुणों में शब्दगत अथवा अर्थगत वैशिष्ट्य मानना दण्डी की मौलिक सूझ है, वे इन दश गुणों को केवल वैदर्भ मार्ग (वैदर्भ रीति) का प्राण मानते हैं, तथा उनके विपर्यय को गौडीय मार्ग का प्रतिपादक स्वीकार करते हैं।

वामन के गुणों की कल्पना तथा इनकी व्याख्या अत्यन्त नवीन और मौलिक है, वामन गुणों को दो प्रकार का मानते हैं—(१) शुद्धगुण और (२) अर्थगुण, इस विभाजन में जो शुद्धगुणों के नाम हैं वे ही अर्थगुणों के भी हैं, परन्तु दोनों प्रकार के गुणों की कल्पना में पर्याप्त अन्तर है। वे ही गुण शुद्धगुण होते हैं, तथा अर्थगुण भी, नाम में भेद नहीं, परन्तु दोनों के स्वरूप में महान अन्तर है। गुण के विषय में वामन का मत अन्य आलंकारिकों को मान्य नहीं हो सका, इनके पहिले ही भामह ने दश गुणों के स्थान पर केवल तीन गुणों—माधुर्य-औज-प्रसाद-की कल्पना स्वीकार की थी, इसी मत का अवलम्बन पीछे के आलंकारिकों ने किया। मम्मट, हेमचन्द्र, और विश्वनाथ कविराज आदि आलंकारिकों ने गुणों की संख्या तीन ही मानी है। इतने ही पर्याप्त हैं, काव्य की शोभा बढ़ाने के लिए। उन्होंने सप्रमाण सिद्ध किया है कि या तो अन्य गुणों का इन्हीं तीन गुणों में अन्तर्भाव होता है, या वे दोषाभाव रूप हैं, अथवा कहीं कहीं वे गुण न होकर वस्तुतः दोष ही होते हैं। वामन के मार्ग का थोड़ा अवलम्बन भोजराज ने किया है परन्तु विभाजन का तरीका कुछ और है, भोजराज ने गुणों के तीन भेद माने हैं, (१) बाह्य गुण (२) आन्तर गुण और (३) वैशेषिक गुण, उन्होंने गुणों की भी संख्या दश से बढ़ाकर चौबीस कर दी है, (सरस्वती कण्ठाभरण १।५८।६५)

रीति का विकास

रीति का प्राचीन नाम मार्ग या पन्था है। इसकी कल्पना अलंकारशास्त्र के आदिम युग में, भामह से पूर्वकाल में कभी न कभी अवश्य हुई होगी। वैदर्भ मार्ग काव्य का एक रमणीय मार्ग माना जाता था, तथा गौडीयमार्ग निन्दनीय

था, परन्तु स्वतन्त्र मार्गी भामह की विचारधारा निराली है, उनका स्पष्ट कथन है कि हमें न तो वैदर्भ मार्ग की प्रशंसा करनी चाहिए, और न गौडीय मार्ग की निन्दा, बल्कि काव्य के शोभन गुणों की ओर ही ध्यान देना चाहिए। दण्डी ने इन दोनों मार्गों—वैदर्भ मार्ग और गौडीय मार्ग का बड़ा ही विस्तृत विवेचन किया है, वे वैदर्भ मार्ग को ही पूर्वोक्त दस गुणों से युक्त मानते हैं, और गौडीय मार्ग में कतिपय गुणों को छोड़कर अन्य गुणों का विपर्यय स्वीकार करते हैं, इसलिए दण्डी की दृष्टि में वैदर्भ मार्ग ही कवियों के लिए आदर्श रूप से अनुकरणीय मार्ग है, और गौडीयमार्ग नितान्त अस्पृहणीय मार्ग है।

वामन ने दण्डी की अपेक्षा काव्य की कल्पना को बड़े ही दृढ़ आधार पर निर्मित किया है, काव्य की आत्मा को खोज निकालने वाले सर्वप्रथम आलंकारिक हैं। उनकी दृष्टि में काव्य की आत्मा रीति है, दण्डी की दो रीतियों के स्थान पर वे तीन रीतियाँ मानते हैं। (१) वैदर्भी (२) गौडी और (३) पाञ्चाली। वैदर्भी रीति में समस्त दश गुणों की सत्ता विद्यमान रहती है, गौडीय रीति में केवल ओज और कान्ति गुण होते हैं, तथा पाञ्चाली में माधुर्य और सौकुमार्य गुणों की सत्ता रहती है। पूर्व आलंकारिकों ने रीति की इस संख्या को बहुत ही बढ़ा दिया है, राजशेखर ने कर्पूरमञ्जरी के मंगल-श्लोक में इन तीन रीतियों का उल्लेख किया है।

(१) वच्छोभी-वैदर्भी, (२) मागधी तथा (३) पाञ्चालिका-पाञ्चाली, रुद्रट ने लाटीया को भी नई रीति मानकर रीतियों की संख्या चार कर दी है। भोज ने आवन्ती, मागधी, और लाटी को नई रीतियाँ मानकर इनकी संख्या वामन की अपेक्षा दुगनी (छै) कर दी है। इतना होने पर भी वामन के द्वारा उद्भासित तीन ही रीतियों का काव्यजगत् में आज भी प्रचलन है। वामन ही सबसे कम अलंकारों का निर्देश करते हैं। गुणों के समान ही इनकी अलंकारों की उद्भावना भी नितान्त मौलिक और सुन्दर है।

महत्त्व

अलंकार सम्प्रदाय की अपेक्षा रीति-सम्प्रदाय में काव्य-सिद्धान्तों का विशेष विकास लक्षित होता है। साथ ही साथ काव्य की आत्मा का विवेचन भी बड़ी मार्मिकता के साथ हुआ है। आनन्दवर्धन की मान्यता है कि काव्य के तत्त्वों के उन्मीलन में रीति सम्प्रदाय के आचार्यों ने अपनी क्षमता दिखलाई है। वामन की यह प्रकारान्तर से भूयसी प्रशंसा है।

रीति सम्प्रदाय को गुण और अलंकार का परस्पर पार्थक्य दिखलाने का गौरव प्राप्त है। भामह ने गुण और अलंकार का परस्पर भेद नहीं दिखलाया और दण्डी ने काव्य की शोभा करने वाले समस्त धर्मों अर्थात् गुणों को भी

अलंकार शब्द से ही व्यवहृत कर अपने अलंकारवादी होने का परिचय दिया। परन्तु वामन ने काव्य में गुणों को अलंकारों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। उनकी दृष्टि में काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्म "गुण" कहलाते हैं, तथा उसका अतिशय (वृद्धि) करने वाले धर्म "अलंकार" के नाम से पुकारे जाते हैं। काव्य में अलकार की अपेक्षा गुण अधिक महत्त्वशाली हैं। क्योंकि वे काव्य में नित्य रहते हैं उनके बिना काव्य की शोभा के एकमात्र आधायक धर्म को "गुण" मानना इस सम्प्रदाय का महत्त्व है।

अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों की अपेक्षा रीतिसम्प्रदाय के आलोचकों की दृष्टि गहरी तथा तीक्ष्ण है। भामह आदि अलंकारवादी आचार्य रस को काव्य का बहिरङ्ग साधन मानते हैं। परन्तु वामन उसे काव्य के अन्तरङ्ग धर्मों में परिगणित कर रस की महत्ता स्पष्टतः स्वीकार करते हैं। इन्होंने "कान्ति" गुण के भीतर रस का अन्तर्निवेश कर काव्य में इसके महत्त्व को स्वीकार किया है। वामन की वक्रोक्ति के भीतर अविवक्षितवाच्यध्वनि का अन्तर्भाव भी उपलब्ध होता है। इस प्रकार काव्य के तत्त्वों का विवेचन इस सम्प्रदाय में अलंकार सम्प्रदाय की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। ध्वनिवादी आचार्यों को भी रीति का सिद्धान्त मान्य है और वे ध्वनि के साथ उसका सामञ्जस्य दिखलाने में कृतकार्य हुए हैं। रीति को एक नई दिशा में ले जाने का श्रेय आचार्य कुन्तक को प्राप्त है। इन्होंने रीति को कवि के स्वभाव के साथ सम्बद्ध कर काव्य में रीति के महत्त्व को अङ्गीकार किया है।

वर्तमान रीतियों का नामकरण भौगोलिक आधार पर हुआ है। कुन्तक को न तो यह आधार ही पसन्द है, और न यह नाम ही इसीलिए उन्होंने रीतियों के इन नये नामों की उद्भावना की है—

सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः॥१।२४।

(१) सुकुमार मार्ग	(वैदर्भी रीति)
(२) विचित्र मार्ग	(गौड़ी रीति)
(३) मध्यम मार्ग	(पाञ्चाली रीति)

काव्य में रीति का तथा तद्बोधक काव्यतत्त्व गुण का सिद्धान्त नितान्त महनीय है जिनकी उपासना कविजनों का लक्ष्य होना चाहिए।

(४) वक्रोक्ति सम्प्रदाय

संस्कृत साहित्य में "वक्रोक्ति" शब्द का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। बाणभट्ट ने कादम्बरी में जो वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग

किया है वह केवल वाक्छलरूप शब्दालंकार के अर्थ में नहीं किया गया, वास्तव में बाण स्वयं भी वाणी के चमत्कार के बड़े प्रेमी थे।

"वक्रोक्तिनिपुणेन आख्यायिकाख्यानपरिचयचतुरेण" (कादम्बरी)

बाण की यह वक्रोक्ति इतिवृत्त वर्णन से भिन्न काव्य की चमत्कारपूर्ण शैली तथा वचनविदग्धता की ही पर्याय है, जिसका विन्यास उन्होंने इस प्रकार किया है—

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम् ॥१॥ (हर्षचरित)

यह स्पष्ट है कि बाण का वक्रोक्ति मार्ग शब्द और अर्थ दोनों के चमत्कार से सम्पन्न है।

वक्रोक्ति का शाब्दिक अर्थ भी यही है कि सामान्य कथन न होकर कुछ वक्र (टेढ़ापन वाला) असाधारण कथन।

काव्य की उक्ति साधारण न होकर अधिक चमत्कृत होनी चाहिए यही "वक्रोक्ति" है। ऐतिहासिक दृष्टि से अलंकारशास्त्र में वक्रोक्ति की कल्पना भामह से आरम्भ होती है। भामह वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति का ही दूसरा नाम मानते हैं। इसे काव्य का मूलतत्त्व स्वीकार करते हैं। **"वाचां वक्रार्थ-शब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते"** (का०ल० ५।६६) अर्थात् वक्र (टेढ़ा) अर्थ का कथन शब्दों के लिए अलंकार का काम करता है।

अभिनव गुप्त की दृष्टि में वक्रोक्ति का लक्षण इस प्रकार है—

"शब्दस्य हि वक्रता, अभिधेयस्य च वक्रता।
लोकोत्तीर्णेन रूपेण अवस्थानम् ॥"

लोक में जिस शब्द तथा अर्थ का व्यवहार जिस रूप में होता है, उस रूप में न होकर उससे विलक्षण रूप में होना "वक्रोक्ति" है।

आचार्य दण्डी ने समस्त वाङ्मय को दो भागों में बाँटा है—(१) स्वभावोक्ति व (२) वक्रोक्ति। स्वभावोक्ति के भीतर उन स्थलों का अन्तर्भाव किया गया है, जिनमें वस्तुओं का यथार्थ कथन विद्यमान हो। स्वभाव या यथार्थ कथन से भिन्न होने के कारण "वक्रोक्ति" में "अतिशय कथन" का समावेश किया गया है। इस प्रकार उपमा आदि अर्थालङ्कार तथा रसवत्, प्रेयादि रस से सम्बद्ध अलंकार वक्रोक्ति के अन्तर्गत आते हैं।

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥ (काव्यादर्श)

वामन ने भी वक्रोक्ति का वर्णन किया है। पर उनकी दृष्टि में वक्रोक्ति सादृश्य के ऊपर आश्रित होने वाली लक्षणा ही है। लक्षणा के अनेक आधार

हो सकते हैं। परन्तु सादृश्य (समानता) के आधार पर आश्रित होने वाली लक्षणा "वक्रोक्ति" कही जाती है—

"सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः।"

रुद्रट के समय में आकर वक्रोक्ति एक शब्दालंकार बन जाता है। किसी के वाक्य को सुनकर श्रोता उसके किसी शब्द को भिन्न अर्थ में ग्रहण कर जब अवाञ्छनीय तथा अकल्पित उत्तर देता हैं, तब रुद्रट के अनुसार वक्रोक्ति अलंकार होता है।

परन्तु वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक की "वक्रोक्ति" इन सबसे विलक्षण है। वे इसे अलंकार न मानकर, काव्य की आत्मा (मूलतत्त्व) मानते हैं। उनकी वक्रोक्ति का लक्षण है—**"वैदग्ध्य भङ्गी भणिति।"**

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः ॥१।६॥
उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलङ्कृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणिति रुच्यते ॥१।१०॥

अर्थात्—किसी वस्तु का साधारण लौकिक प्रकार से भिन्न अलौकिक ढंग से कथन।

इस प्रकार जो वक्रोक्ति भामह में अलंकारों के मूलतत्त्व के रूप में गृहीत थी, वामन में सादृश्यमूला लक्षणा के रूप में अर्थालङ्कार थी, और रुद्रट में शब्दालङ्कार मानी जाती थी, वही "वक्रोक्ति" कुन्तक के मतानुसार काव्य का "मूलतत्त्व" स्वीकार की गई।

वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानने वाले कुन्तक-वक्रोक्ति सम्प्रदाय के संस्थापक हैं। कुन्तक बड़े ही प्रौढ़ तथा मेधावी आलोचक थे। उनकी इस मौलिकता के कारण ही हम उन्हें आनन्दवर्धन व अभिनव गुप्त की कोटि में मानते हैं। वे रस तथा ध्वनि दोनों सिद्धान्तों से परिचित थे परन्तु उन्हें आलोचना में स्वतन्त्र स्थान न देकर वक्रोक्ति का ही विशिष्ट प्रकार मानते हैं।

इनके मतानुसार वक्रोक्ति छै प्रकार की होती है—(१) वर्णवक्रता, (२) पदपूर्वार्धवक्रता (३) पदोत्तरार्धवक्रता (४) वाक्यवक्रता (५) प्रकरणवक्रता (६) प्रबन्धवक्रता।

उपचार वक्रता के भीतर उन्होंने ध्वनि के प्रचुर भेदों का समावेश किया है। इसकी वक्रोक्ति की कल्पना इतनी उदात्त, व्यापक तथा बहुमुखी है कि

उसके भीतर ध्वनि के समस्त भेद सिमटकर विराजने लगते हैं। कुन्तक की विश्लेषण तथा विवेचन शक्ति बड़ी मार्मिक है। इनका ग्रन्थ मौलिक विचारों का भण्डार है। दुःख है कि इनके पीछे किसी आलोचक ने न तो इस सिद्धान्त को अग्रसर किया और न इस सम्प्रदाय का अनुसरण ही किया। वक्रोक्ति सिद्धान्त संस्कृत आलोचना में काव्य के एक मौलिक तत्त्व के रूप में सदा अमर रहेगा।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय का जन्म वास्तव में प्रत्युत्तर के रूप में हुआ था। काव्यात्मवाद के विरुद्ध देहवादियों का यह अन्तिम विफल विद्रोह था। काव्य के जिन सौन्दर्य भेदों की आनन्दवर्धन ने ध्वनि के द्वारा आत्मपरक व्याख्या की थी उन सभी की कुन्तक ने अपनी अपूर्व मेघा के बल पर वक्रोक्ति के द्वारा वस्तुपरक विवेचना प्रस्तुत करने की चेष्टा की, इस प्रकार वक्रोक्ति प्रायः ध्वनि की वस्तुगत परिकल्पना-सी प्रतीत होती है।

जो कुछ भी हो पर ध्वनि की प्रतिष्ठा को पुनः पर्यवेक्षण पूर्वक प्रत्याख्यान करने का अदम्य साहस वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक को ही है।

(५) ध्वनि सम्प्रदाय

साहित्यशास्त्र के इतिहास में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय यही "ध्वनि-सम्प्रदाय" है। इस सम्प्रदाय के आलोचकों ने ध्वनि की उद्भावना का काव्य में निहित अन्तस्तत्त्व की व्याख्या की है। ध्वनि के सिद्धान्त को व्यवस्थित करने का श्रेय आचार्य आनन्दवर्धन को प्राप्त है, जिनका अविर्भाव काश्मीर में नवम शताब्दी के मध्यकाल में हुआ। इस सिद्धान्त के विरोधी आचार्यों की कमी नहीं थी, परन्तु अन्तर्बल होने के कारण यह सिद्धान्त उनकी परीक्षाग्नि में खरा उतरा और आजकल का साहित्य-संसार का सर्वस्व है।

ध्वनि क्या है ? जहाँ वाच्य अर्थ से भीतर से एक दूसरा ही रमणीय अर्थ निकले, जो वाच्य अर्थ की अपेक्षा कहीं अधिक चमत्कारपूर्ण हो, वही ध्वनि-काव्य कहलाता है। अर्थ मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं—(१) वाच्य और (२) प्रतीयमान। वाच्य के अन्तर्गत अलंकार आदि का समावेश होता है, और प्रतीयमान अर्थ के भीतर ध्वनि का, प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि के लिए काव्य में वस्तुस्थिति को देखने की जरूरत है।

किसी कामिनी के शरीर में लावण्य की चमक रहती है, जो उसके अङ्गों से भिन्न एक पृथक् वस्तु होती है, काव्य में भी उसके अङ्गों से पृथक् चमत्कार जनक प्रतीयमान अर्थ की सत्ता निश्चित वर्तमान रहती है।

आनन्दवर्धन का स्पष्ट मत है कि—

"प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीसु महाकवीनाम् ।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥१।४॥

आनन्दवर्धन का महत्त्व इसी में है कि उन्होंने अपनी आलौकिक प्रतिभा के द्वारा इस काव्यतत्त्व को अन्य काव्याङ्गों से पृथक् कर स्वतन्त्र स्थान दिया। वाल्मीकि, व्यास और कालिदास आदि कवियों के काव्य में ध्वनि का साम्राज्य है, परन्तु उनकी समीक्षा कर उसे काव्यतत्त्व का एक प्रधान सिद्धान्त बताकर व्यवस्थित करना साधारण काम नहीं था। आलोचना के इतिहास में ध्वनि-सम्प्रदाय को विशेष महत्त्व प्राप्त है। आनन्दवर्धन ने "ध्वन्यालोक" नामक ग्रन्थ में इस तत्त्व की वही मार्मिक व्याख्या की, उनके लगभग सौ वर्ष बाद अभिनव गुप्त ने ध्वन्यालोक की टीका "लोचन" में इस सिद्धान्त की प्रौढ़ व्याख्या की, मम्मट ने अपने "काव्यप्रकाश" में इस सिद्धान्त की सदा के लिए पूर्णरूप से स्थापना की, इसीलिए वे "ध्वनि प्रस्थापन परमाचार्य" की संज्ञा से प्रसिद्ध हैं।

ध्वनितत्त्व के लिए आलंकारिक लोग वैय्याकरणों के ऋणी हैं। वैय्याकरण "स्फोट" नामक एक ऐसे पदार्थ को मानते हैं जिससे अर्थ स्फुटित होता है, "स्फुटति अर्थोऽस्मादिति स्फोटः" इस व्युत्पत्ति से अर्थ जिस शब्द से प्रस्फुटित होता है, वह शब्द ध्वनि है, अर्थात—स्फोट रूप मुख्यार्थायि व्यक्ति विधायक शब्द के लिए वैय्याकरणों ने ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है।

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—व्याकरणशास्त्र में परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी इन चार प्रकार की वाणी का वर्णन है, इनमें परा, पश्यन्ती व मध्यमा को नित्य तथा अखण्ड मानकर "तुरीयं वाचं मनुष्या वदन्ति" इस नियम से जिसे हम सुनते हैं या जिससे बोलते हैं वह वैखरी वाक् है। वैखरी शब्द ही व्यक्त शब्द है, इसी शब्द में जो अर्थ है उसी में वैय्याकरणों ने स्फोट की कल्पना की है, अर्थात्—पूर्वपूर्व वर्ण अपने संस्कार को उत्तरोत्तर वर्ण में आहित कर देता है, उसी संस्कार की सहायता से अन्तिम वर्ण पूरे वाक्यार्थ को अभिव्यक्त कर देता है, यही अन्तिमवर्ण से अभिव्यक्त अर्थ ही स्फोट है, इसी वाक्यार्थ ज्ञान के लिए वैय्याकरणों ने स्फोट की कल्पना की है। भर्तृहरि ने भी लिखा है—

यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते ।
स स्फोटशब्दजः शब्दो ध्वनिरित्यभिधीयते ।

स्फोट के अभिव्यञ्जक शब्द के लिए वैयाकरणों ने ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है, परन्तु आलंकारिकों ने इसी कल्पना का विस्तार कर शब्द, अर्थ व

शब्दार्थ के व्यापार और व्यङ्ग, व व्यङ्ग्यप्रधान काव्य में भी ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है।

ध्वनि का लक्षण करते हुए स्वयं आनन्दवर्धनाचार्य ने कहा है—

यत्रार्थः शब्दो या तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सुरिभिः कथितः ॥१।१३॥

जहाँ अर्थ स्वयं को तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके "उस प्रतीयमान-अर्थ को प्रकाशित करते है, उस काव्य विशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि के ५१ प्रकारों में तीन ही को मुख्य माना है। (१) रसध्वनि (२) अलंकार ध्वनि और (३) वस्तु ध्वनि।

रसध्वनि के भीतर केवल नव रसों की ही गणना नहीं होती है, अपितु भाव, रसाभास, भावोदय, भाव-शान्ति, भावसन्धि और भावशबलता की भी गणना है। वस्तु ध्वनि वहीं होती है जहाँ किसी तथ्य कथन-मात्र की अभिव्यञ्जना की जाय, अलंकारध्वनि वहाँ होती है जहाँ अभिव्यक्ति किया गया पदार्थ इति वृत्तात्मक न होकर कल्पना-प्रसूत हो, जो अन्य शब्दों में प्रकट किये जाने पर अलंकार रूप को धारण करें। इन तीनों में रसध्वनि ही सर्वश्रेष्ठ है। ध्वनि और अलंकार ध्वनि का तो सर्वथा इसमें ही पर्यवसान होता है। ध्वनि को काव्य की आत्मा कहना तो सामान्य कथन है। वस्तुतः रस ही काव्य की आत्मा है, आलोचकों का यही निश्चित मत है। काव्य का अभ्यासी कवि चित्र काव्य से अभ्यास भले ही करे, परन्तु परिपक्व मतिवाले कवियों का एक मात्र पर्यवसान "ध्वनिकाव्य" में ही होता है।

ध्वनि सम्प्रदाय के अनुसार काव्य तीन प्रकार के होते है—(१) ध्वनि-काव्य (२) गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य (३) चित्रकाव्य। ध्वनिकाव्य में व्यङ्ग्य अर्थ का चमत्कार अधिक रहता है। यही सबसे उत्तम काव्य है। जिस काव्य में व्यंग्य तो रहता है परन्तु वह वाच्य की अपेक्षा कम चमत्कृत होता है उसे "गुणीभूतोव्यङ्ग्य काव्य" कहते हैं। चित्रकाव्य में शब्द तथा अर्थ के अलंकारों से ही चमत्कार आता है। यह अधम कोटि का काव्य है।

ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि के मूल सिद्धान्त के अनुसार समस्त काव्य तत्वों का उचित संतुलन काव्य में दिखलाया है। विशेषतः गुण और अलंकार को उनके वास्तविक स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया। गुण वे ही धर्म होते हैं जो रस-लक्षण मुख्य अर्थ पर अवलम्बित रहते हैं। अलंकार काव्य के अङ्गभूत शब्द तथा अर्थ पर ही आश्रित रहने वाले धर्म हैं।

इस प्रकार ध्वनि सम्प्रदाय के अनुसार गुण काव्य के नित्य धर्म हैं, और अलंकार अनित्य धर्म। अलंकारों की स्थिति काव्य में हो या न हो परन्तु गुण की स्थिति तो अवश्यम्भावी है।

ध्वनि सम्प्रदाय का इतिहास

ध्वनि सम्प्रदाय की स्थापना का श्रेय आनन्दवर्धन को प्राप्त है। कुछ लोग वृत्तिकार तथा कारिकाकार को भिन्न-भिन्न मानते है और "सहृदय" नामक किसी आचार्य को ध्वनि के सिद्धान्त की उद्भावना का श्रेय प्रदान करते हैं। परन्तु अधिकतर विद्वानों की सम्मति में आनन्दवर्धन ने ही कारिका तथा वृत्ति दोनों की रचना की थी। आचार्य अभिनव गुप्त ध्वनि सम्प्रदाय के इतिहास में विशेष महत्त्व इसीलिए रखते है कि उन्होंने ध्वन्यालोक के ऊपर लोचन टीका लिखकर ध्वनि के सिद्धान्त को अनेक युक्तियों से पुष्टकर उसे प्रामाणिक बनाया, उसके अनन्तर मम्मटाचार्य ने ध्वनि विरोधियों के आक्षेपों का उत्तर देकर ध्वनि के सिद्धान्त को दृढ़तर आधारों पर स्थापित किया। अपने ग्रन्थ में इन्होंने भिन्न भिन्न दर्शनों के मतानुयायी विद्वानों की युक्तियों का खण्डन कर व्यञ्जना की स्वतन्त्र वृत्ति के रूप में स्थापना की। मम्मट के पश्चात्वर्ती विश्वनाथ कविराज ने "साहित्यदर्पण" में ध्वनि की पर्याप्त मीमांसा की है। पिछले युग के सबसे बड़े आलंकारिक पण्डितराज जगन्नाथ (१७ शती) हैं। जिनकी कृति "रसगङ्गाधर" ध्वनि सम्प्रदाय का नितान्त परिपोषक अन्तिम प्रौढ़ ग्रन्थ है। वे आनन्दवर्धन के सिद्धान्त से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने ध्वनिकार को आलंकारिकों की सरणि का व्यवस्थापक होने का गौरव प्रदान किया है—

ध्वनिकृतामलङ्कारसरणि-व्यवस्थापकत्वात्" (र० ग०)

यद्यपि ध्वनि सिद्धान्त प्रवल प्रमाणों द्वारा प्रतिष्ठापित किया गया था, तथापि काश्मीर के मान्य आलंकारिकों को यह सिद्धान्त प्रथमतः मान्य नहीं हुआ। "मुकुलभट्ट" सबसे प्राचीन ध्वनि विरोधी आचार्य हैं। अभिधा वृत्ति मातृका" में इनके कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ध्वनि की उद्भावना अभी एकदम नई थी, और वे उसे लक्षणा के अन्तर्गत मानते थे। इनके शिष्य "प्रतिहारेन्दुराज" ने ध्वनि को अलंकार के ही अन्तर्गत माना है। ध्वनि के खण्डन के लिए "भट्टनायक" ने "सहृदयदर्पण" नामक ग्रन्थ की रचना की है। ये काव्य में रस के पक्षपाती थे, परन्तु रस की व्याख्या के लिए व्यञ्जना का सिद्धान्त इन्हें मान्य न था। "कुन्तक" ध्वनि को वक्रोक्ति का ही दूसरा प्रकार मानते हैं। इनके मत में रस काव्य का स्वतन्त्र तत्त्व न होकर वक्रोक्ति का ही एक भेद मात्र है। "महिमभट्ट" के ग्रंथ का नाम "व्यक्तिविवेक" है, जिसमें

इन्होंने ध्वनि को अनुमान में ही गतार्थ करने का प्रयास किया है। इनकी विवेचना बड़ी मार्मिक और गम्भीरता पूर्ण है।

इन विरोधी आचार्यों को तर्कपूर्ण समाधान "काव्यप्रकाश" में मिलता है। जिसके बाद यह सिद्धान्ततः एकान्ततः प्रतिष्ठित हो गया और पिछले आचार्यों ने इसे सर्वथा मान्यता दी।

(६) औचित्य सम्प्रदाय

औचित्य साहित्यशास्त्र का व्यापकतम सिद्धान्त है। इसे काव्य की आत्मा या प्राण मानने का गौरव यद्यपि क्षेमेन्द्र को प्राप्त है, तथापि औचित्य की कल्पना साहित्य-जगत् में अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। भरत के नाट्यशास्त्र में सिद्धान्त रूप में तो नहीं परन्तु व्यवहार रूप में औचित्य का विधान पाया जाता है, भरत का कहना है कि लोक ही नाट्य का प्रमाण है। लोक में जो वस्तु जिस रूप में, जिस वेश में, जिस मुद्रा में उपलब्ध होती है, उसका उसी वेश तथा उसी मुद्रा में, अनुकरण करना नाट्य का चरम लक्ष्य है इसीलिए नाट्यशास्त्र (प्रकृति) पात्र के भाषा वेष आदि के विधान पर इतना जोर देता है। भरत ने विभिन्न प्रकृतियों का वर्णन अपने ग्रन्थ में विस्तार के साथ किया है। इससे स्पष्ट है कि भरत नाट्य में औचित्य के विधान को परमावश्यक मानते थे, काव्य में औचित्य तत्त्व की कल्पना का मूल स्रोत यही है। इस प्रसंङ्ग में भरत का यह श्लोक बड़ा ही सारगर्भित है—

अदेशजो हि वेशस्तु न शोभाञ्जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैव प्रजायते॥ (ना०२३।६८)

औचित्य के सर्वमान्य आचार्य आनन्दवर्धन हैं जिन्होंने काव्य में औचित्य की पूर्ण गरिमा का अवगाहन किया था, और रसभङ्ग की व्याख्या के अवसर पर यह मान्य तथ्य प्रतिपादित किया था कि "अनौचित्य" ही रसभङ्ग का प्रधान कारण है।

अनुचित वस्तु के परिवेश से रस का परिपाक काव्य में उत्पन्न नहीं हो सकता। रस के उन्मेष का मुख्य रहस्य है औचित्य के द्वारा किसी वस्तु का उपनिबन्धन तथा काव्य में कल्पना और विधान। आनन्दवर्धन कहते हैं—

अनौचित्याद् ऋते नान्यत् रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥१॥

आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक के टीकाकार अभिनवगुप्त ने उन काश्मीरी आलोचकों की कड़ी आलोचना की है जो ध्वनि के सिद्धान्त से विना सम्पर्क रखे औचित्य को ही काव्य की आत्मा मानते थे। उन्होंने दिखलाया है कि

ध्वनि की सत्ता के बिना औचित्य का सिद्धान्त अप्रतिष्ठित रहता है। ध्वनि को छोड़कर औचित्य तत्त्व का उन्मीलन कथमपि युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। अतः औचित्य तथा ध्वनि परस्पर उपकारक तथ्यों के रूप में काव्य जगत् में अवतीर्ण होते हैं।

साहित्यशास्त्र में अभिनवगुप्त के प्रधान शिष्य "क्षेमेन्द्र" थे, ये स्वतः ध्वनिवादी थे, तथापि "औचित्यविचारचर्चा" नामक अपने ग्रन्थ में इन्होंने औचित्य को व्यापक काव्यतत्व के रूप में प्रतिष्ठित किया है। औचित्य को यह महत्त्वपूर्ण स्थान देने का श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र को ही प्राप्त है। औचित्य किसे कहते हैं? इसका उत्तर देते हुए क्षेमेन्द्र लिखते है कि "उचित का जो भाव है वह औचित्य कहलाता है। जो वस्तु जिसके सदृश हो, जिससे उसका मेल मिले उसे कहते है "उचित" और उचित का ही भाव होता है—"औचित्य"

"उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य यो भावः, तदौचित्यं प्रचक्षते ॥ (औ०वि-७)

यह औचित्य ही रस का जीवनभूत है, उसका प्राण है, तथा काव्य में चमत्कारकारी है।

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना॥ (औ० वि० ३)

क्षेमेन्द्र ने इस औचित्य के अनेक भेद किए हैं। पद, वाक्य, अर्थ, रस, कारक, लिङ्ग, वचन आदि अनेक स्थलों पर औचित्य का विधान दिखाकर तथा इसके अभाव को अन्यत्र बतलाकर क्षेमेन्द्र ने साहित्य-रसिकों का महान् उपकार किया है। औचित्य की विशद विवेचना कर क्षेमेन्द्र ने साहित्यशास्त्र में इसे व्यवस्थित रूप दिया है। परन्तु इन्हें ही इस सम्प्रदाय का उद्भावक मानना भयंकर ऐतिहासिक भूल है, क्षेमेन्द्र ने अपने विवेचन के लिए आनन्दवर्धन तथा भरत से सामग्री एकत्रित की है। इनके द्वारा बताये गये औचित्य के सभी भेद "ध्वन्यालोक" में पूर्णतया विद्यमान है, सच्ची बात तो यह है कि औचित्य के बिना न तो अलंकार ही कोई शोभा धारण करता है, और न गुण ही रुचिकर प्रतीत होता है। अलंकार और गुण के शोभन होने का रहस्य औचित्य के भीतर ही निहित है।

क्षेमेन्द्र का यह महत्त्वपूर्ण कथन है—

कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा।
पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण करुणया प्रणते, रिपौ नायान्ति के हास्यताम्,।
औचित्येन बिना रुचिं प्रतनुते नालंकृति नो गुणाः ॥१॥

इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त को पिछले युग के आलंकारिकों ने अपनी काव्य-कल्पना में औचित्य के तत्त्व को पूर्णतः स्वीकार किया और अपनी समीक्षा में इसका उपयोग किया ।

रसालंकृति-वक्रोक्ति-रीति ध्वन्यौचिती क्रमाः ।
साहित्यशास्त्र एतस्मिन् सम्प्रदाया इमे स्मृताः ॥१॥

अलंकारशास्त्र के आचार्यों का संक्षिप्त इतिवृत्त—

संस्कृत साहित्य में दोनों प्रकार के काव्य, श्रव्य व दृश्य, आलोचना के विषय होते हैं, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से दृश्य काव्य की ही समीक्षा भारतवर्ष में सबसे पहले आरम्भ हुई पाणिनि के समय (७ शती विक्रम पूर्व) में नटों की शिक्षा-दीक्षा तथा अभिनय से सम्बद्ध ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी, उन्होंने "शिलालि" तथा "कृशाश्व" के द्वारा विरचित नट सूत्रों का निर्देश अपनी अष्टाध्यायी में किया है ।

श्रव्यकाव्य की आलोचना का उदय विक्रम की छठी शताब्दी के मध्य में हुआ जिस युग में भामह ने अपने "काव्यालङ्कार" की रचना की । भामह से पूर्ववर्ती आचार्यों में काश्यप ब्रह्मदत्त तथा नन्दिस्वामी की बहुत प्रसिद्धि थी, परन्तु उनके ग्रन्थों की अभी तक उपलब्धि नहीं हुई है, उपलब्ध आचार्यों में मान्य आचार्यों का संक्षिप्त परिचय यहाँ विषय की पूर्ति के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है ।

(१) भरत (**द्वितीय शताब्दी**)—

भरत आलोचना शास्त्र के सर्वप्रथम आचार्य हैं। दो भरतों का पता चलता है, वृद्धभरत तथा भरत । वृद्धभरत का ग्रन्थ नाट्यवेद सम्भवतः बारह हजार श्लोकों में था, परन्तु वह आज अनुपलब्ध है, भरत का "नाट्यशास्त्र" आज उपलब्ध है, यह आलोचना का ही नहीं अपितु सम्पूर्ण ललितकलाओं की समीक्षा का सर्वमान्य ग्रन्थ है । "नाट्यशास्त्र" एक युग की रचना न होकर अनेक शताब्दियों के साहित्यिक प्रयास का परिणत फल है। आज यह कारिकाबद्ध रूप में ही उपलब्ध है, परन्तु इसकी अन्तरङ्ग परीक्षा करने पर इसके भीतर वर्तमान तीन अंशों का पर्याप्त परिचय मिलता है ।

(१)—**सूत्र-भाष्य**—यह गद्यात्मक अंश ग्रन्थ का प्राचीनतम रूप है । मूल ग्रन्थ सूत्र-रूप में ही था, जिस पर भरत ने ही भाष्य भी लिखा था—

(२) **कारिका**—मूल-ग्रन्थ के अभिप्राय को समझने के लिए कालान्तर में कारिकाओं का निर्माण हुआ, कुछ विस्तार से विषय का प्रतिपादन है ।

(३) **अनुवंश्य-श्लोक**—गुरु-शिष्य परंपरा से आने वाले प्राचीन पद्य (आर्या या अनुष्टुप् में निबद्ध) जो अभिनव भारती के अनुसार प्राचीन आचार्यों द्वारा विरचित है, तथा सूत्रों की पुष्टि में यहाँ संग्रहित हैं।

भरत के वर्तमान नाट्यशास्त्र का समय द्वितीय शती से कम नहीं हो सकता। कालिदास भरत को देवों के नाट्याचार्य के रूप में जानते हैं, और नाटकों में आठ रसों के विकास होने तथा अप्सराओं के द्वारा अभिनीत होने का वे स्पष्ट निर्देश करते हैं। अतः भरत को कालिदास (पञ्चशती) से पूर्ववर्त्ती होना चाहिए। मूल सूत्रात्मक ग्रन्थ का समय इससे भी प्राचीन है।

नाट्यशास्त्र में मुख्यतः ३६ अध्याय है, तथा लगभग पांच हजार श्लोक है। इन अध्यायों में नाट्य की उत्पत्ति तथा अभिनय के नाना प्रकारों से सम्बद्ध विषयों का सर्वाङ्गीण विवरण है। रस तथा भाव का वर्णन षष्ठ तथा सप्तम अध्यायों में है। यहाँ काव्य की आलोचना वाचिक अभिनय के प्रसँङ्ग में की गई है। १६ वें अध्याय में काव्यालोचन का मर्म समझाया गया है। भरत ने दश दोष, दश गुण तथा चार अलंकार (यमक-उपमा-रूपक दीपक) की मीमांसा कर इस शास्त्र का आरम्भ किया। इसके ऊपर अनेक टीका में लिखी गईं, जिनमें आचार्य "अभिनवगुप्त" की *"अभिनव भारती" ही आज उपलब्ध प्रमुख व्याख्या है।*

(२) भामह (**षष्ठ शतक का पूर्वार्ध**)—

भरत के बाद आलंकारिकों में भामह ही मान्य आचार्य हैं। इन्होंने अलंकार शास्त्र को नाट्यशास्त्र की परतन्त्रता से मुक्त कर स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में आलोचकों के सामने प्रस्तुत किया है। भामह से पूर्ववर्ती "मेधाविरुद्र" नामक आचार्य का परिचय कम ही मिलता है, भामह के पिता का नाम था "रक्रिल गोमी" और ये कश्मीर के निवासी प्रतीत होते है।

भामह और दण्डी की कालिक स्थिति के विषय में विद्वानों में कभी पर्याप्त मतभेद था परन्तु अब तो यह सर्वमान्य तथ्य है कि भामह दण्डी से पूर्ववर्ती आचार्य हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ में न्यायदीप के वर्णन में बौद्ध न्याय से अपना विशेष परिचय दिखलाया है। इनका प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण आचार्य दिङ्नाग (षष्ठशती) के अनुसार है। धर्मकीर्ति (सप्तमशती) के अनुसार नहीं फलतः इनका समय इन दोनों बौद्धाचार्यों के मध्ययुग में होना चाहिए, अतः इनका आविर्भाव काल षष्ठशतक का मध्यभाग माना जाता है।

भामह बौद्ध न्याय से विशेष परिचय रखने पर भी बौद्ध नहीं है, प्रत्युत ब्राह्मण हैं। क्योंकि इन्होंने रामायण तथा महाभारत की कथाओं का विशेष रूप से उल्लेख किया है, तथा बौद्धों के "अपोहवाद" का खण्डन भी किया है

जो कोई भी बौद्ध नहीं कर सकता है। भामह का ग्रन्थ "काव्यालङ्कार" छः परिच्छेदों में विभिक्त है जिनमें काव्य के साधन, लक्षण तथा भेद का प्रथम परिच्छेद में अलंकारों का द्वितीय तृतीय परिच्छेद में, दश दोषों का चतुर्थ परिच्छेद में, न्यायविरोधी दोष का पञ्चम परिच्छेद में, तथा शब्द शुद्धि का षष्ठ परिच्छेद में, वर्णन क्रमशः किया है। श्लोक चार सौ करीब है, भामह के समस्त सिद्धान्त इस शास्त्र में मान्य हैं। इनके विशिष्ट सिद्धान्त ये है—

(१) शब्द तथा अर्थ दोनों का काव्य होना "शब्दार्थौ काव्यम्"
(२) भरत के द्वारा वर्णित दश गुणों का गुणत्रयी माधुर्य-ओज-प्रसाद में अन्तर्भाव।
(३) वक्रोक्ति को सकल अलंकारों का प्राण मानना।
(४) दशविध दोषों का सुन्दर विवेचन।
(५) रीति पर आग्रह न रखकर काव्य गुणों पर आस्था।

(३) दण्डी (सप्तम शती)—

दण्डी दक्षिण भारत के पल्लव नरेश सिंहविष्णु (सप्तमशती) के सभा पडित माने जाते हैं। इनका लोकप्रिय ग्रन्थ "काव्यादर्श" है। जिसके कतिपय सिद्धान्तों का निर्देश तथा अनेक श्लोकों का अनुवाद कन्नड़भाषा के प्राचीन ग्रन्थ "कविराज मार्ग" तथा सिंघली ग्रन्थ "सिय बस-लकर" (स्वभाषालंकार) में किया गया है। और ये दोनों अष्टम शती के ग्रन्थ माने जाते हैं। इसका तिब्बती अनुवाद इसकी लोकप्रियता का पर्याप्त सूचक है। इस प्रकार यह ग्रन्थ अपने विषय में विशेष प्रख्यात तथा लोकप्रिय रहा है।

"काव्यादर्श" बड़ा ही माननीय ग्रन्थ है, इसमें चार परिच्छेद हैं। तथा श्लोकों की संख्या साड़े छै सौ के आसपास हैं। पहिले परिच्छेद में काव्य का लक्षण-भेद रीति-तथा गुण का विस्तृत वर्णन है। दूसरे में अर्थालंकारों का, तृतीय में शब्दालंकारों का, (विशेषतः यमक का) तथा चतुर्थ परिच्छेद में दशविधि दोषों का सुन्दर तथा व्यापक वर्णन है। ये सबसे पहिले आचार्य हैं जिन्होंने वैदर्भी तथा गौडी रीति के पारस्परिक भेद को स्पष्टतया दिखलाया है। इस प्रकार ये रीति सम्प्रदाय के भी मार्गदर्शक माने जा सकते हैं।

(४) वामन (अष्टम उत्तरार्ध)—

कल्हण पडित के कथनानुसार वामन काश्मीर नरेश जयापीड (७७९-८१३ ई०) के मन्त्री थे, वामन भवभूति के उत्तररामचरित का एक पद्य उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है, फलतः ये भवभूति (अष्टमशती पूर्वार्ध) से परवर्त्ती हैं। तथा राजशेखर (१० म शती) से प्राचीन हैं, क्योंकि काव्य मीमांसा में वामन के कतिपय सूत्र उद्धृत किये गये हैं। वामन आनन्दवर्धन

(नवमशती मध्यभाग) से प्राचीन ही प्रतीत होते हैं जिन्होंने इनका नामतः उल्लेख तो नहीं किया है, परन्तु इनके रीति सिद्धान्त का स्पष्ट निर्देश किया है।

इनके ग्रन्थ का नाम है—"काव्यालङ्कारसूत्र"—जिसमें काव्य की आलोचना सूत्रों में प्रस्तुत की गई है। वामन ने इसके उपर अपनी वृति भी लिखी है। सूत्रों की संख्या ३१९ है। तथा ग्रन्थ पांच अधिकरणों में विभक्त है। प्रथम अधिकरण में काव्य का रूप तथा प्रयोजन तथा रीतियों का वर्णन है। दूसरे में दोषों का, तीसरे में गुणों का, चौथे में अलंकारों का तथा पाचवें में शब्द शुद्धि का वर्णन है।

वामन रीति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक हैं।—रीति को काव्य की आत्मा मानने का श्रेय इन्हें ही प्राप्त है। "रीतिरात्मा काव्यस्य" इनके कतिपय सिद्धान्त ये हैं—

(क) गुण तथा अलंकार का परस्पर विभेद, तथा गुण की अलंकार की अधिक महत्ता का प्रतिपादन।

(ख) रीति को काव्य की आत्मा मानना।

(ग) वै॰ . ॰ी तथा पाञ्चाली-इन तीन रीतियों की कल्पना।

(घ) "वक्रोक्ति" को सादृश्यमूलक लक्षणा मानना।

(ङ) समग्र अर्थालङ्कारों को उपमा का प्रपञ्च मानना।

(च) दश प्रकार के गुणों को शब्द तथा अर्थ उभयगत मानकर वीस प्रकार की कल्पना।

(५) उद्भट (अष्टम शती का उत्तरार्ध)—

अलंकार सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्यों में "उद्भट" नितान्त प्रख्यात हैं। ये भी वामन के समकालीन आचार्य थे, तथा जयापीड के सभापति किसी उद्भट नामक विद्वान से भिन्न नहीं है। प्रतिहारेन्दुराज, रुय्यक, तथा पडितराज जगन्नाथ ने उद्भट को आनन्दवर्धन से प्राचीन माना है। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में उद्भट के नाम तथा मत का स्पष्ट उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि इनका समय अष्टम शती उत्तरार्ध है। वामन और उद्भट एक ही राजा के राजदरवार में उपस्थित समकालीन विद्वान थे, जिनमें एक थे रीति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक और दूसरे थे अलंकार सम्प्रदाय के उन्नायक, परन्तु किसी ने भी किसी का निर्देश नहीं किया।

उद्भट के उपलब्ध ग्रन्थ हैं—काव्यालङ्कारसार-संग्रह, और प्रतिहारेन्दुराज द्वारा निर्दिष्ट-भामह के ग्रन्थ "काव्यालङ्कार" की टीका—"भामह विवरण" हैं जो आज उपलब्ध नहीं हैं। इनकी तीसरी कृति है—"कुमार सम्भव काव्य" कालिदास के कुमार सम्भव के आदर्श पर लिखित एक लघुकाव्य है, जिसके अनेक पद्य प्रथम ग्रन्थ में उदाहरण के रूप में उद्धृत किये गये हैं।

इनके—"काव्यालङ्कारसार-संग्रह" ग्रन्थ के दो टीकाकार हैं—प्रतिहारेन्दुराज (दशम शती) जो मुकुलभट्ट के शिष्य थे, दाक्षणात्य थे, तथा अलंकार शास्त्र के मान्य आचार्य हैं। दूसरे व्याख्याकार काश्मीरी राजानक तिलक हैं, (१०७५-११२५ ई०) जिनकी "विवृति" नामक टीका बड़ौदा से सन् १९३१ में प्रकाशित हुई है।

काव्यालङ्कारसार संग्रह-में अलंकारों का ही विवेचन है। परन्तु यह विवेचन विशेष आलोचनात्मक तथा वैज्ञानिक ढंग पर किया गया है। उद्भट के कतिपय विशिष्ट सिद्धान्त ये हैं—

(१) अर्थभेद से शब्दभेद की कल्पना।

(२) श्लेष के दो प्रकार, शब्द श्लेष तथा अर्थश्लेष मानना। परन्तु दोनों को अर्थालङ्कार में ही परिगणित करना।

(३) अन्य अलंकारों को योग में श्लेष की ही प्रबलता मानना।

(४) वाक्य का त्रिविध अभिधा-व्यापार।

(५) अर्थ की द्विविध-कल्पना—विचारित सुस्थ तथा अविचारितरमणीय

(६) काव्य गुणों को संघटना का धर्म मानना।

इन्हीं सब विशेषताओं के कारण उद्भट का ग्रंथ अलंकार सम्प्रदाय में एक विशिष्ट ग्रंथ तथा इस सम्प्रदाय का आदिम ग्रन्थ माना जाता है।

(६) रुद्रट (नवम शती का पूर्वार्ध)—

रुद्रट भी कश्मीर निवासी ही थे। राजशेखर ने अपने "काव्यमीमांसा" में रुद्रट के द्वारा उद्भावित "वक्रोक्ति" नामक शब्दालङ्कार का निर्देश किया है। "शिशुपाल वध" के टीकाकार काश्मीरी वल्लभदेव (दशमशती पूर्वार्द्ध) ने इनके अलंकार ग्रन्थ का निर्देश अपनी टीका में किया है। फलतः इनका समय १० शती के पूर्वार्धि से भी प्राचीन है। ये वामन तथा उद्भट के पश्चात् वर्ती आचार्य हैं। रुद्रट की वक्रोक्ति की कल्पना निराली है तथा प्राचीन आलंकारिकों से मेल नहीं खाती। "शृङ्गारतिलक" के कर्ता "रुद्रभट्ट" रुद्रट से भिन्न हैं या अभिन्न इस विषय में भी विद्वानों में मतभेद हैं। परन्तु रुद्रट सिद्धान्त की भिन्नता के कारण रुद्रभट्ट से भिन्न ही प्रतीत होते हैं।

इनका काव्यालङ्कार १६ अध्यायों में विभक्त ग्रन्थ है तथा इसमें ७३४ श्लोक हैं। इनमें काव्यस्वरूप, शब्दालङ्कार चार रीतियाँ, वृत्तियाँ, चित्रबन्ध अर्थालङ्कार, दोष, रस तथा नायिका भेद का विवेचन किया गया है।

इसमें रस का विस्तार से वर्णन है। रुद्रट ने पहिले-पहल अलंकारों के वैज्ञानिक विभाजन की ओर ध्यान दिया और वास्तव, औपम्य, अतिशय, तथा श्लेष को अलंकार का मूलतत्त्व निर्दिष्ट किया है।

इन्होंने नये-नये अलंकारों की भी उद्भावना इस ग्रंथ में की है।

(७) आनन्दवर्धन (नवम शती का उत्तरार्ध)—

आलोचनाशास्त्र के इतिहास में आनन्दवर्धन अपनी मौलिक कल्पना के लिए युगान्तरकारी आचार्य हैं। इसका सर्वमान्य ग्रन्थ "ध्वन्यालोक" है। जिसमें ग्रन्थकार की मौलिकता, सूक्ष्म विवेचना तथा गूढ विषय ग्राहिता का अपूर्व परिचय मिलता है। ये कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा (८५५ ई०-८८३ ई०) के सभापण्डित थे और इसलिए इनका समय नवम शती का उत्तरार्ध निश्चित रूप से है।

"ध्वन्यालोक" में मूलतः कारिकायें हैं जिन पर गद्यात्मक वृत्ति भी है। कारिका तथा वृत्ति का रचयिता एक ही व्यक्ति है या भिन्न-भिन्न व्यक्ति ? इस प्रश्न की मीमांसा दो प्रकार से की गई है। कुछ विद्वान् मानते हैं कि आनन्दवर्धन ने वृत्ति और "सहृदय" नामक किसी प्राचीन पण्डित ने ध्वनि-सम्बन्धी कारिकायें लिखी थीं। परन्तु यह मत अब मान्य नहीं है। आनन्दवर्धन ही स्वयं कारिकाकार व वृत्तिकार हैं। इस बात के लिए अभिनवगुप्त के "लोचन" में अनेक पुष्ट-प्रमाण विद्यमान हैं। इसके उपर "चन्द्रिका" नामक कोई प्राचीन टीका थी, जो आज उपलब्ध नहीं है। उपलब्ध टीकाओं में सबसे विद्वत्तापूर्ण व्याख्या "लोचन" ही है। इस टीका के निर्माता महामाहेश्वराचार्य अभिनव गुप्त हैं। इस टीका को मौलिक-ग्रन्थ होने का गौरव प्राप्त है।

आनन्दवर्धन-ध्वनिसम्प्रदाय के उद्भावक आचार्य हैं। ध्वन्यालोक में चार उद्योत हैं। प्रथम में ध्वनि के विषय में प्राचीन आलंकारिकों के मतों का विस्तृत समीक्षण है।

द्वितीय तथा तृतीय उद्योत में ध्वनि के भेद-उपभेद का तथा उसकी स्थापना का प्रामाणिक विवरण है। चतुर्थ उद्योत में ध्वनि की उपयोगिता का विचार है।

आनन्दवर्धन काश्मीरी थे, परन्तु इनके जीवनवृत्त का पता नहीं चलता है। हेमचन्द्र के कथनानुसार ये "नोण" के पुत्र थे। इन्होंने अर्जुन-चरित, विषमबाणलीला, (प्राकृत काव्य) देवीशतक, तत्त्वालोक नामक अन्य ग्रन्थों की भी रचना की थी, परन्तु इसमें "देवी शतक" ही मिलता है।

(८) अभिनवगुप्त (दशम शती का उत्तरार्ध)—

अभिनव गुप्त कश्मीर निवासी हैं, ये शैवदर्शन तथा तन्त्रशास्त्र के भी अलौकिक प्रतिभाशाली विद्वान् हैं। इनका "तन्त्रालोक" नामक ग्रन्थरत्न तन्त्रशास्त्र का विश्वकोष ही है। साहित्यशास्त्र में इनकी प्रसिद्धि भरत के

नाट्यशास्त्र की टीका "अभिनवभारती" तथा ध्वन्यालोक की टीका "लोचन" के कारण है।

अभिनव गुप्त के इन पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों को पाकर साहित्यशास्त्र चमक पड़ा, और ध्वनि सम्प्रदाय अपने आलोक से साहित्य संसार को उद्भासित करने लगा। रस सिद्धान्त की इनकी व्याख्या पूर्ण मनोवैज्ञानिक, अन्तरङ्ग तथा आवर्जक है, और इसलिए ये अवान्तरकालीन आलोचकों के लिए सर्वथा उपजीव्य, मान्य तथा श्रद्धांस्पद आचार्य हैं।

अभिनव गुप्त का समय ९६० ई० से लेकर १०२० ई० तक साधारण रीत्या माना जाता है। क्रमस्तोत्र की रचना इन्हीं के अनुसार ९९१ ई० में हुई, तथा ईश्वरप्रत्यभिज्ञा की विमर्शिनी टीका (१०१४-१५वीं) में की। इनके पिता का नाम नरसिंह गुप्त था, जो लोगों में "चुखुलक" के नाम से कश्मीर में प्रसिद्ध थे। माता का नाम विमलका था। अभिनव ने अपने अनेक गुरुओं का उल्लेख किया है, जिनसे इन्होंने विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन किया था। इनमें विशेष उल्लेखनीय हैं, इनके पिता नरसिंहगुप्त, भट्ट इन्दुराज, तथा भट्ट तौत, जिनसे इन्होंने क्रमशः व्याकरण, ध्वनि तथा नाट्यशास्त्र का अध्ययन किया था।

इन्होंने साहित्यशास्त्र, तन्त्रशास्त्र तथा शैवदर्शन पर ग्रन्थों का प्रणयन किया, जो कुल मिलाकर संख्या में लगभग ४० हैं। तन्त्रालोक तथा प्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी इनकी सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक कृतियाँ हैं। साहित्य क्षेत्र में "अभिनव भारती" तथा "लोचन" के अतिरिक्त "काव्यकौतुकविवरण" नामक इनका एक दूसरा भी अनुपलब्ध ग्रन्थ है जिसमें इन्होंने अपने साहित्यशास्त्रीय गुरु "भट्टतौत" के "काव्यकौतुक" ग्रन्थ की व्याख्या की थी। यदि ध्वनिसम्प्रदाय को अभिनव गुप्त की कृतियाँ नहीं मिलती तो उसके सर्वमान्य होने में सन्देश ही रहता।

(६) कुन्तक (**दशम शती का उत्तरार्ध**)—

वक्रोक्ति सम्प्रदाय के उद्भावक ये ही आचार्य हैं। ये वक्रोक्ति को काव्य का जीवन मानते थे। इसीलिए इनका ग्रन्थ "वक्रोक्तिजीवित" के नाम से प्रसिद्ध है, तथा ये भी वक्रोक्तिजीवितकार के नाम से बहुशः उल्लिखित हैं। इसमें इन्होंने राजशेखर के (९१० ई०) के बालरामायण नाटक से अनेक पद्यों को उद्धृत किया है, तथा इनके मत का उल्लेख सर्वप्रथम महिमभट्ट (११वीं शती का उत्तरार्ध) ने अपने ग्रन्थ "व्यक्तिविवेक" में किया है, और इसीलिए इनका समय इन दोनों लेखकों के बीच में कभी होना चाहिए। ये दशम शती के उत्तरार्ध में विद्यमान माने जा सकते हैं। ये अभिनव गुप्त के

समकालीन कश्मीरी आचार्य हैं। अभिनव ने इनके नाम का तो नहीं, परन्तु इनके विशिष्ट मत का उल्लेख अपने ग्रन्थ में अवश्य किया है।

"वक्रोक्तिजीवित" कारिका तथा वृत्ति से संवलित ग्रन्थ है। इनमें चार उन्मेष हैं जिसमें वक्रोक्ति के स्वरूप तथा प्रकारों का पूरा वर्णन किया है। प्रथम दो उन्मेष तो पूर्ण रूप से मिलते हैं, परन्तु अन्तिम दो उन्मेष अधूरे ही मिलते हैं। यह ग्रन्थ संस्कृत आलोचना का नितान्त प्रौढ तथा क्रान्तिकारी ग्रन्थ है। इसका वक्रोक्ति सिद्धान्त भी काव्य-जगत् में एक निराला सिद्धान्त है।

(१०) महिमभट्ट (११वीं शती का मध्यभाग)—

महिमभट्ट काश्मीर के निवासी थे, ये रसध्वनि आदि को मानते तो थे परन्तु इनके लिए पृथक् व्यञ्जनावृत्ति को नहीं मानते थे, वे अनुमान के द्वारा रसादि की प्रतीति मानते थे। इनके मत में व्यञ्जनावृत्ति की न तो ध्वनि के लिए कोई आवश्यकता है, और न इसके लिए कोई अवकाश ही।

ध्वनि के खण्डन के लिए ही इन्होंने "व्यक्तिविवेक" नामक ग्रन्थ की रचना की। इनके अनुसार ध्वनि कोई पृथक् वस्तु नहीं है अपितु अनुमान का ही एक प्रकार विशेष है।

इसी बात की सिद्धि के लिए इन्होंने इस ग्रन्थ में अपने उत्कट पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है। यह ग्रन्थ तीन विमर्शों में विभक्त है। प्रथम विमर्श में ध्वनि के लक्षण का खण्डन तथा उसका अनुमान में ही अन्तर्भाव बड़ी प्रौढता के साथ दिखलाया है।

द्वितीय विमर्श में "औचित्य" को काव्य का मुख्य दोष मानकर उसके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग प्रकारों का प्रगल्भ वर्णन है। अन्तरङ्ग अनौचित्य के भीतर "रसदोष" का अन्तर्भाव होता है। बहिरङ्ग के भीतर समस्त शब्दगत दोषों की गणना की गई है।

तृतीय विमर्श में ग्रन्थकार "ध्वन्यालोक" के ध्वनि स्थापन पर टूट पड़ता है, और उसमें से लगभग चालीस उदाहरणों की परीक्षा कर उन्हें अनुमान के द्वारा सिद्ध करता है।

महिमभट्ट के पिता का नाम श्रीधैर्य तथा गुरु का नाम श्यामल था। इन्होंने लोचन तथा वक्रोक्ति जीवितकार के सिद्धान्त का खण्डन किया है। मम्मट भट्ट ने इनके द्वारा उद्भावित दोषों को अपने काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास में ग्रहण किया है। अतः इसका समय दोनों के बीच (११वीं शती का मध्यकाल) होना चाहिए।

(११) धनञ्जय (१०वीं शती का उत्तरार्ध)—

महिमभट्ट के समान धनञ्जय भी ध्वनि विरोधी आचार्यों में अन्यतम हैं। वे रस की उत्पत्ति के विषय में भावकत्ववादी हैं, और व्यञ्जनावाद के

खण्डनकर्ता हैं। धनञ्जय तथा इसके भ्राता धनिक, दोनों धारा नगरी के विद्याप्रेमी नरेश मुञ्जराज (९७४ ई० ९९० ई०) के सभा पण्डित थे। इनका ग्रन्थ है— "दशरूपक" जिसमें नाटक के समस्त विषय बड़े संक्षेप में, परन्तु बड़ी सुन्दरता से वर्णित हैं। धनिक ने इस पर "अवलोक" नामक टीका लिखी है। इन्होंने "काव्यनिर्णय" नामक साहित्य विषयक ग्रन्थ का प्रणयन इससे पहले किया था। बहुरूप मिश्र की अप्रकाशित टीका दशरूपक की बहुत ही विशद टीका मानी जाती है।

दशरूपक में चार प्रकाश हैं, तथा लगभग तीन सौ कारिकायें हैं जिसमें वस्तु (नाटक का कथानक) नेता, (नायक) रूपक के दश प्रकार तथा रस का विशिष्ट वर्णन क्रमशः किया गया है। नाट्यशास्त्र एक भारी भरकम ग्रन्थ है, जिसका अनुशीलन करना साधारण पाठकों के लिए कठिन है। "दशरूपक" से यह कठिनता बहुत अंशों में दूर होती है। इसीलिए यह नाट्य का बहुत ही उपादेय तथा लोकप्रिय ग्रन्थ है।

(१२) भोजराज (११वीं शती का पूर्वार्ध)—

धारा नरेश राजा भोज साहित्यशास्त्र के इतिहास में संग्राहक रूप से विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके दानों ग्रन्थ इस विषय में वस्तुतः विश्वकोष ही हैं। "सरस्वती कण्ठाभरण" जो बहुत समय से विद्वानों का कण्ठाभरण हो रहा है, दूसरा ग्रन्थ "शृङ्गारप्रकाश" है यह भी अब प्रकाश में आ चुका है।

सरस्वती कण्ठाभरण में पाँच परिच्छेद हैं।

प्रथम परिच्छेद में काव्य के २४ गुणों का व १६ दोषों का वर्णन अपने मतानुसार है। द्वितीय परिच्छेद में २४ अलंकारों का, तृतीय में २४ अर्थालंकारों का तथा चतुर्थ में २४ उपमालंकारों का उदाहरण सहित वर्णन है। पञ्चम परिच्छेद में रस भाव, सन्धि तथा वृत्ति-चतुष्टय का वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

शृङ्गार प्रकाश- में रसों का विशेषतः शृङ्गार का बहुत ही विस्तृत तथा विशद विवेचन है। भोज की दृष्टि समन्वयात्मक है और अपने सिद्धान्तों को पुष्ट करने के लिए इन्होंने प्राचीन आलंकारिकों के मतों का तथा उदाहरणों का पर्याप्त रूप से उद्धरण दिया है। दण्डी के काव्यादर्श का प्रभाव इस ग्रन्थ पर बहुत अधिक है।

(१३) मम्मट (एकादश शती का उत्तरार्ध)—

पूर्ववर्ती चारों आचार्य ध्वनि विरोध का प्रामाणिक खण्डन कर मम्मट ने अपने "काव्य प्रकाश" में ध्वनि मार्ग का जो विवरण प्रस्तुत किया, वही आदर्श

माना जाने लगा, और उसी का अनुगमन पिछले आलंकारिकों ने किया कश्मीर ही मम्मट की जन्मभूमि थी, भीमसेन ने इन्हें जैयट का पुत्र तथा कैय्यट और उव्वट का ज्येष्ठ भ्राता लिखा है।

मम्मट का समय निश्चित करने में ज्यादा कठिनाई नहीं है। इन्होंने अभिनव गुप्त के मत को तथा पद्म गुप्त (१०१० ई०) के आस-पास वर्तमान पद्यों को उद्धृत किया है। उधर इसके प्रथम टीकाकार माणिक्य चन्द्र सूरि ने "संकेत" की रचना (११६०ई०) में की। फलतः इनका समय ११वीं शती का उत्तरार्ध मानना युक्तियुक्त है।

काव्यप्रकाश प्रस्थान ग्रन्थ के समान प्रौढ तथा मौलिक है। इसके १० उल्लास हैं, जिसमें काव्यलक्षण,वृत्तिविचार, ध्वनिप्रकार तथा दोष गुण अलंकार का विस्तृत तथा विशद विवरण है।

ध्वनि मार्ग का इससे सुन्दर विवेचन संक्षेप में मिलना कठिन है। इस पर टीका का निर्माण करना पाण्डित्य की कसौटी माना जाता था। टीका सम्पत्ति में यह बेजोड़ है। इसकी सत्तर टीकाओं में से अनेक स्वतन्त्र रीति ग्रन्थ के कर्ताओं की भी रचनायें हैं। "अलंकार सर्वस्व" के लेखक रुय्यक तथा साहित्य दर्पण" के निर्माता विश्वनाथ कविराज ने भी इसे व्याख्याओं से मण्डित किया है।

(१४) सागरनन्दी (एकादश शती का पूर्वार्ध)—

ग्रन्थकार का नाम "सागर" है, पर नन्दीवंश में उत्पन्न होने के कारण ये सागर-नन्दी के नाम से विख्यात थे। इनके ग्रन्थ का नाम **"नाटकलक्षण-रत्नकोष"** जिसमें नाटक के सब लक्षणों का वर्णन है। फलत: यह दशरूपक की कोटि का ग्रन्थ है। सागरनन्दी दशरूपककार के ही समकालीन हैं। इन्होंने राजशेखर (९२० ई०) के श्लोकों को उद्धृत किया है, तथा इनके मत तथा पद्यों को सुभूति (१०६० ई० ११५० ई०) ने अपनी अमर टीका में उद्धृत किया है। फलतः इनका समय ११ शती का पूर्व भाग मानना उचित होगा। दशरूपक से यह ग्रन्थ अपने में वैशिष्ट्य रखता है।

(१५) अग्निपुराण (११वीं शती का अन्तिम भाग)—

अग्निपुराण वस्तुतः नाना विधाओं का लोकप्रिय कोष है। इसके दश अध्यायों में अलंकार-शास्त्र से सम्बद्ध विषय वर्णित हैं। इनमें किसी मौलिक सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं है। प्रत्युत प्राचीन आलंकारिकों के मतों को आधार मानकर इसकी रचना की गई है। अधिकांश मत अलंकार सम्प्रदाय से मिलते हैं। ये ध्वनि मार्ग को अङ्गीकार नहीं करते हैं। इनके उपर भोजराज का विशेष प्रभाव लक्षित होता है। फलतः इस अंश की रचना का समय ... शती का अन्तिम भाग होना चाहिए।

(१६) क्षेमेन्द्र (एकादश शता का उत्तरार्ध)—

ये औचित्य-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य हैं। ये भी काश्मीर निवासी है। ये सिन्धु के पौत्र तथा प्रकाशेन्द्र के पुत्र थे। आरम्भ में ये शैवमतानुयायी थे; परन्तु बाद में सोमाचार्य के द्वारा वृद्धावस्था में वैष्णव धर्म में दीक्षित किये जाने से वैष्णव बन गये।

साहित्यशास्त्र में ये अभिनव गुप्त के साक्षात् शिष्य थे। इनके "औचित्य विचारचर्चा" तथा "कण्ठाभरण" की रचना काश्मीर नरेश "अनन्त" (१०२८ ई० १०६५ ई०) के राज्यकाल में हुई। "दशावतारचरित" इनका अन्तिम ग्रन्थ है, जिसका निर्माण अनन्त के पुत्र तथा उत्तराधिकारी राजा कलश के राज्यकाल में १०६६ ई० में किया। फलतः इनका समय ११वीं शती का उत्तरार्ध और इस प्रकार ये मम्मट के समकालीन हैं।

कविकण्ठाभरण—कवि शिक्षाविषयक एक साधारण ग्रन्थ है। परन्तु "औचित्य विचार चर्चा" एक नवीन सिद्धान्त का पोषक मान्य ग्रन्थ है। इसमें "औचित्य" को काव्य का सर्वस्व माना गया है, तथा उसके अनेक भेद दिखलाये गये हैं। औचित्य का सम्बन्ध पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस आदि के साथ भली भाँति दिखलाकर क्षेमेन्द्र ने औचित्य का महत्त्व काव्य में दिखलाया है। "सुवृत्ततिलक" छन्दःशास्त्र से सम्बद्ध होने पर भी साहित्य का एक मार्मिक ग्रन्थ है, जिसमें छन्द के विषय में अनेक ज्ञातव्य बातें बतलाई गई हैं।

(१७) रुय्यक (१२वीं शती का पूर्वार्ध)—

ये भी काश्मीर के निवासी थे, तथा कश्मीर नरेश राजा जयसिंह (११२८-४९ ई०) के सन्धिविग्राहिक महाकवि मंखक के काव्यगुरु थे। अतः इनका समय १२वीं शती का मध्यभाग है। इनके पिता "राजानकतिलक" स्वयं आलंकारिक थे, तथा इन्होंने उद्भट के ग्रन्थ के उपर "विवेक-या उद्भट विचार नामक टीका लिखी थी, रुय्यक ने काव्यप्रकाश पर टीका लिखी है। तथा मंखक के महाकाव्य "श्रीकण्ठचरित" (११४५ ई०) से कतिपय पद्य उद्धृत किये हैं। मंखक को कई दाक्षिणात्य पण्डित "अलंकारसर्वस्व" का वृत्तिकार मानते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं है। रुय्यक ने ही सूत्र तथा वृत्ति दोनों का प्रणयन किया हैं।

इनके अनेक ग्रन्थों का पता चलता है, जिसमें "अलंकारसर्वस्व" महत्त्वपूर्ण है। यह एक मौलिक रचना है, जिसमें अलंकारों के विभाजन का मूल खोज निकाला गया है। रुय्यक ने ७५ अर्थालंकारों का तथा ६ शब्दालंकारों

का निरूपण किया है, जिनमें से "विकल्प" तथा "विचित्र" जैसे नवीन अलंकारों की कल्पना इनकी मौलिक सूझ का फल है।

विश्वनाथ कविराज इस ग्रन्थ के विशेष ऋणी हैं, तथा अप्पय्य दीक्षित भी इसे उपजीव्य मानते हैं। इसके ऊपर दो टीकायें प्रकाशित हैं—(१) जयरथकृ विमर्शिणी तथा (२) विद्याधर चक्रवर्ती कृत अलंकार सञ्जीवनी। दीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ कहीं-कहीं जयरथ के मत को उद्धृत करते हैं, और कहीं-कहीं खण्डन भी करते हैं।

(१८) हेमचन्द्र (१२वीं शती का उत्तरार्ध)—

गुजरात के राजा कुमारपाल (१२वीं शती उत्तरार्ध) के गुरु प्रसिद्ध जैनाचार्य "हेमचन्द्र" ने साहित्यशास्त्र पर "काव्यानुशासन" नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया है। इस पर इन्होंने टीका भी लिखी है। ये अभिनव गुप्त व मम्मट के विशेष ऋणी हैं। ये संकलनकर्ता ही अधिक है। काव्यानुशासन के रस प्रकरण में इन्होंने अभिनव भारती से रस प्रसङ्ग का पूरा अक्षरशः उदाहरण ही दे दिया है, जो अभिनव के मूल ग्रन्थ के समझने में तथा पाठ-निर्धारण में आज भी सहायता देता है।

हेमचन्द्र के दो शिष्यों की सम्मिलित कृति है—"नाट्यदर्पण"। इन दोनों शिष्यों के नाम हैं—रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र। रामचन्द्र—"प्रबन्धशतकर्ता" की उपाधि से मण्डित हैं। ये गुजरात के अनेक नरेश सिद्धराज, कुमारपाल तथा अजयपाल के समय में वर्तमान थे। फलतः इनका समय ११वीं शती का उत्तरार्ध है।

नाट्यदर्पण—नाट्यशास्त्र के विषयों को संक्षेप में प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ हैं। छोटा होने पर भी उपादेय है। ग्रन्थकारों ने इस पर व्याख्या भी लिखी है, जिसमें आज अज्ञात और अनुपलब्ध अनेक नाट्यग्रन्थों के नाम ही मिलते, प्रत्युत उनके महत्त्वपूर्ण लम्बे-लम्बे उद्धरण भी मिलते हैं। ऐसे ही कई उद्धरणों से "रामगुप्त" के ऐतिहासिक रूप का परिचय इतिहास प्रेमियों को मिलता है, और इतिहास की एक विस्तृत कड़ी इसी ग्रन्थ की कृपा से उनके हाथ लगी है।

(१९) शारदातनय (१३वीं शती का मध्य भाग)—

शारदा तनय के व्यक्तिगत नाम से हम अपरिचित ही हैं। ये कश्मीर के निवासी थे अपने को शारदा का पुत्र मानते थे। भोज के शृङ्गार प्रकाश से और मम्मट के काव्यप्रकाश से यहाँ अनेक श्लोक उद्धृत किये गये हैं। सिंहभूपाल (१४वीं शती का प्रथम चरण) ने "रसार्णव सुधाकर" में

शारदातनय के मत का उल्लेख किया है। अतः इन्हें मम्मट तथा सिंहभूपाल के मध्यकाल में १२५० ई० के लगभग होना चाहिए।

इनके ग्रन्थ का नाम "भावप्रकाशन" है। यह प्रधानतया नाट्यशास्त्र का ग्रन्थ है। इनमें दश अधिकार हैं जिसमें भाव, रसरूप, रसभेद, नायक-नायिका-भेद, शब्दार्थ-सम्बन्ध नाट्यशरीर, दशरूपक, नृत्यभेद, तथा नाट्यप्रयोग इन दश विषयों का क्रमशः वर्णन किया गया है। यह नाट्य के सिद्धान्त के साथ ही साथ नाट्य के व्यवहार का भी सुन्दर विवेचन करता है। रस विषयक सामग्री अपूर्व है। रस के विषय में अनेक अज्ञात रसाचार्यों के जैसे नारद, वासुकि, व्यास आदि के मतों का ही निर्देश नहीं मिलता, प्रत्युत अभिनव गुप्त के भी मत का सुन्दर रूप से विस्तृत विवरण इसे नितान्त उपयोगी बना रहा है। कतिपय आचार्यों के मत को तो यहीं पहली बार उपन्यास किया गया है। इस प्रकार ग्रन्थ नाट्य की जानकारी के लिए तथा रस के विश्लेषण के लिए बहुत ही उपयोगी और उपादेय है।

(२०) पीयूष वर्ष जयदेव (१३वीं शती उत्तरार्ध)—

जयदेव मिथला के निवासी थे, ये गीत गोविन्द के रचयिता जयदेव से तो भिन्न हैं, परन्तु "प्रसन्नराघव" नाटक के कर्ता जयदेव यहीं हैं या पक्षधर मिश्र न्यायशास्त्र के विद्वान हैं, इस विषय में अभी तक विद्वानों में सन्देह है।

पीयूष वर्ष जयदेव विश्वनाथ कविराज से तो प्राचीन हैं, क्योंकि इन्होंने जयदेव का एक पद्य साहित्यदर्पण में उद्धृत किया है। अतः इनका समय १३वीं शती का उत्तरार्ध मानना चाहिए।

"चन्द्रालोक" इनका अलंकार शास्त्र का सुन्दर तथा लोकप्रिय ग्रंथ है। यह पूरा ग्रंथ दश मयूखों में विभक्त है। इसमें ३५० अनुष्टुब् श्लोक हैं, इसमें काव्य के समस्त विषयों का संक्षिप्त वर्णन है। इनकी शैली बड़ी सुन्दर है, पद्य के पूर्वार्ध में लक्षण हैं, उत्तरार्ध में उदाहरण। इसी ग्रन्थ को अप्पय्यदीक्षित ने अपने ग्रन्थ "कुवलयानन्द" के लिए उपजीव्य माना है। चन्द्रालोक की टीकाओं में "शारदागम" प्राचीन तथा पाण्डित्यपूर्ण टीका है। राजा जसवन्तसिंह का "भाषाभूषण" इसी चन्द्रालोक का हिन्दी अनुवाद है, यह भी मूल के समान ही रुचिर तथा आवर्जक है।

(२१) शोभाकर मिश्र (१४वीं शती)—

इनके ग्रन्थ "अलंकाररत्नाकर" का उल्लेख "रत्नाकर" के नाम से अप्पय्य दीक्षित तथा पण्डितराज दोनों ने किया। इसके मतका संकेत जयरथ ने विमर्शिणी के अनेक स्थलों पर किया है। निश्चित रूप से ये जयरथ (१५शती) से प्राचीन हैं। अतः इनका समय १४वीं शती मानना उचित है। ये कश्मीर

के निवासी प्रतीत होते हैं। इनके पिता का नाम त्रयीश्वर मित्र था। तथा काश्मीरी कवि यशस्कार ने इन्हीं के अलंकारों के उदाहरण के लिए "देवी-स्तोत्र" नामक काव्य का निर्माण किया।

इनका "अलंकाररत्नाकर" सूत्र-वृत्ति के ढंग पर लिखा गया अभिनव शैली का ग्रंथ है। इनमें इन्होंने लगभग एक सौ अलंकारों का निरूपण किया है जिसमें कुछ अलंकार इनकी मौलिक कल्पना हैं तथा कतिपय अलंकार प्राचीन अलंकारों के नाम बदलकर आये हैं। अलंकारों के विकास के अनुशीलन के निमित्त यह ग्रंथ विशेष उपयोगी है। पण्डितराज जगन्नाथ ने "रत्नाकर" के आधार पर "असम" तथा उदाहरण" नामक नवीन अलंकारों की कल्पना की है जिसे अप्पय्य दीक्षित नहीं मानते।

पण्डितराज ने "असम" के उदाहरण में दोष भले ही दिखलाया हो परन्तु उसकी कल्पना को मान्यता दी।

(२२) विश्वनाथ कविराज (१४वीं शती का पूर्वार्ध)—

ये उत्कल के राजा के सन्धिविग्रहिक थे। इनका वंश पाण्डित्य के लिए प्रसिद्ध था। इनके पिता चन्द्रशेखर रचित "पुष्पमाला" तथा "भाषार्णव" के उल्लेख मिलते हैं। इनके पितामह के अनुज "चण्डीदास" ने "काव्यप्रकाश" पर "दीपिका" नामक टीका लिखी थी। इन्होंने "रुय्यक" के अलंकार सर्वस्व" के कई नये अलंकारों का निर्देश अपने ग्रंथ में किया है। तथा गीत-गोविन्द (११वीं शती) और नैषध काव्य (१२वीं शती का उत्तरार्ध) से पद्यों को उदाहरण के लिए उद्धृत किया है। एक श्लोक में इन्होंने "अलाउद्दीन नृपति" का उल्लेख किया है जो दिल्ली का खिलजी अलाउद्दीन ही मालूम पड़ता है। फलतः इनका समय १४वीं शती का पूर्वार्ध मानना उचित है।

इनके अनेक ग्रन्थों का पता चलता है। परन्तु इनकी प्रसिद्धि का स्तम्भ-दीप है—"साहित्यदर्पण" जो अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ है। तथा आलोचना शास्त्र के सिद्धान्तों के जिज्ञासु पुरुषों के लिए नितान्त उपयोगी है। इसमें दश परिच्छेद हैं, जिनमें काव्य के तत्त्वों का विस्तृत वर्णन है। षष्ठ परिच्छेद में नाट्य का भी संक्षिप्त विवरण देकर लेखक ने एक ही ग्रंथ में काव्य तथा नाट्य दोनों का श्लाघ्य समीक्षण प्रस्तुत किया है। यह काव्य प्रकाश की शैली पर लिखा गया है, परन्तु उतनी प्रौढता इसमें नहीं है। विश्वनाथ आलंकारिक होने की अपेक्षा कवि अधिक हैं। इसीलिए उदाहरणों के रूप में सुन्दर पद्यों का उपन्यास इस ग्रन्थ में किया गया है। विश्वनाथ के पुत्र "अनन्तदास" की टीका प्राचीन है पर इस ग्रन्थ पर रामचन्द्र तर्कवागीश की टीका विशेष प्रसिद्ध है।

(२३) विद्याधर (१४वीं शती का पूर्वार्ध)—

विद्याधर का ग्रन्थ "एकावली" काव्यप्रकाश की शैली पर लिखा गया है। इस ग्रन्थ में आठ उन्मेष (अध्याय) हैं। जिनमें काव्यस्वरूप, वृत्तिविचार ध्वनिभेद, गुणीभूतव्यङ्ग्य, गुण और रीति, दोष, शब्दालङ्कार तथा अर्थालंकार का क्रमशः वर्णन किया गया है। यह काव्यप्रकाश तथा अलंकार-सर्वस्व पर आधारित है। इसके रचियता "विद्याधर" ने समस्त उदाहरणों को अपने आश्रयदाता उत्कल के शासक राजा नरसिंह-द्वितीय, (शासन काल-१२८०-१३-१४ ई०) की स्तुति में स्वयं लिखा है। विद्याधर ने रुय्यक तथा नैषधकार श्रीहर्ष का उल्लेख इस ग्रन्थ में किया है, तथा इसके ऊपर एक ही टीका "तरला" है, जिसके लेखक कालिदास के सञ्जीवनीकार मल्लीनाथ सूरि (१४वीं शती का अन्तिम चरण) हैं, फलतः इनका समय १३वीं शती का अन्त तथा १४वीं शती का प्रारम्भ है।

(२४) विद्यानाथ (१४वीं शती का पूर्वार्ध)—

विद्यानाथ के ग्रन्थ "प्रतापरुद्रयशोभूषण" की प्रसिद्धि दक्षिण भारत में बहुत ही अधिक है। ग्रन्थकार ने अपने आश्रयदाता काकतीय नरेश "प्रतापरुद्र" की स्तुति में दृष्टान्त के लिए पद्यों की रचना की है। साथ ही साथ नाटकीय परिभाषा के समझने के लिए इनकी स्तुति में "प्रतापकल्याण" नामक नाटक भी इसमें सन्निविष्ट कर दिया है! प्रतापरुद्र की राजधानी एकशिला (वारंगल) आन्ध्र में पड़ती थी जो वहाँ के सप्तम नरेश से अभिन्न माने जाते थे। इनके शिलालेख (१२९८-१३१७ ई०) तक के मिलते हैं। फलतः इनका समय १४वीं शती का पूर्वार्ध होना चाहिए। इस ग्रन्थ में नौ प्रकरण हैं जिनमें काव्य के अङ्गों के साथ-साथ नाट्य के अङ्गों का भी पूरा विवरण मिलता है। मम्मट के आदर्श पर लिखित होने पर भी यह रुय्यक के अलंकारसर्वस्व का विशेष ऋणी है। मल्लिनाथ के पुत्र कुमारस्वामी ने इस पर "रत्नापण" नामक टीका लिखी है।

(२५) अप्पय्य दीक्षित (१६वीं शती का अन्तिम भाग)—

अप्पय्य दीक्षित दक्षिण भारत के प्रसिद्ध शैव दार्शनिक थे, ये द्रविड़ थे। कुवलयानन्द में इन्होंने अपने आश्रयदाता का नाम बेंकरपति लिखा है जो विजयनगर का राजा बेंकट न होकर पेन्नकोण्डा का राजा बेंकट प्रथम था जिसके शिलालेख १५८६ से लेकर १६१३ ई० तक मिलते हैं। फलत. इनका समय १६वीं शती का अन्तिम चरण है।

इनके तीन ग्रन्थ अलङ्कार शास्त्र विषयक वृत्तिवार्तिक चित्रमीमांसा व कुवलयानन्द हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने इनके मत का खण्डन "रसगङ्गाधर" में कस कर किया है तथा इनकी खिल्ली उड़ाई हैं। तुच्छ शब्द के प्रयोग से ये

पराङ्मुख नहीं हुए । तथ्य यह है कि अप्पय्य दीक्षित वेदान्ती तथा मीमांसक हैं । साहित्य इनका अपना विषय ही प्रधानरूप से नहीं था । तथापि अलंकारों के विकास के अध्ययन के लिए इनका "कुवलयानन्द" नितान्त उपादेय तथा मान्य ग्रन्थ है ।

(२६) पण्डितराज जगन्नाथ (१७वीं शती का मध्य भाग)—

पण्डितराज जगन्नाथ ने स्वयं लिखा है कि उन्होंने अपना यौवन काल "दिल्ली बल्लभ" की संरक्षकता में विताया । यहाँ "दिल्ली बल्लभ" से दिल्ली के बादशाह शाहजहाँ का संकेत माना जाता है । यह प्रसिद्ध ऐतिहासिक तथ्य रखता है कि शाहजहाँ के निमन्त्रण पर उनके जेठी दाराशिकोह को संस्कृत पढ़ाने के लिए ये काशी से दिल्ली आये । और दारा का ह्रीं वर्णन इन्होंने अपने काव्य में किया है । फलतः इनका समय १७वीं शती का उत्तरार्ध है । ये जात्या तैलङ्ग ब्राह्मण थे, इनके पिता का नाम पेरुमह तथा माता का नाम लक्ष्मी देवी था ।

इनका साहित्यशास्त्र विषयक प्रौढ ग्रन्थ रसगङ्गाधर है । ये प्रतिभाशाली कवि होने के अतिरिक्त अलौकिक पाण्डित्य से मण्डित विद्वान् थे । ग्रन्थ में जो कुछ लिखा है उसे पाण्डित्य की कसौटी पर कस कर लिखा है । उदाहरण सब इन्हीं के स्वयं निर्मित पद्य हैं । इनकी शैली प्रौढ तथा विचारोत्तेजक है । ग्रन्थ पूरा नहीं कहा जा सकता परन्तु साहित्य के समग्र तत्त्वों का विवेचन किया गया है । रस तथा अलंकारों के विवेचन में इन्होंने नयी सूक्ष्म से काम लिया है । ग्रन्थ के प्रथम आनन में काव्य के भेद, दश शब्द तथा अर्थ गुण ध्वनि भेद तथा रस की विस्तृत मीमांसा है । द्वितीय आनन में संलक्ष्य क्रमध्वनि शक्ति, व लक्षणा तथा सत्तर अलंकारों का विशेष विवेचन है ।

इस प्रसङ्ग में इन्होंने प्राचीन मान्य आलंकारिकों का उल्लेख खण्डन या मण्डन की दृष्टि से किया है । रस तथा अलंकारों के विवरण में इनके अनेक मौलिक विचार उपलब्ध होते हैं ।

इन्होंने अप्पय्य दीक्षित के "चित्रमीमांसा" के खण्डन के लिए एक नये ग्रन्थ की ही रचना की है जिसका नाम है—चित्रमीमांसा-खण्डन, इनकी प्रतिभा काव्य क्षेत्र में भी इसी प्रकार चमकती थी ।

(२७) विश्वेश्वर पण्डित (१८वीं शती का पूर्वार्ध)—

विश्वेश्वर पण्डित पर्वतीय ब्राह्मण थे । अल्मोड़ा जिले के अन्तर्गत पाटिया ग्राम के पाण्डेय थे । ये अपने युग के प्रबल पण्डित थे । ये साहित्यिक ही न होकर वैय्याकरण तथा तार्किक भी थे । इसीलिए इन्होंने पण्डितराज के समान ही नव्यन्याय की "अवच्छेदकावच्छिन्न वाली" शैली में अलंकारों का परिष्कृत

लक्षण प्रस्तुत किया है। इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है "अलंकार-कौस्तुभ" जिसकी रूपक अलंकार के प्रकरण तक स्वयं व्याख्या लिखी है।

इनके पिता का नाम लक्ष्मीधर था, जो स्वयं प्रकाण्ड पण्डित थे तथा इनके विद्यागुरु भी थे। इनके भाई का नाम उमापति था जिनके मत का संकेत "कौस्तुभ" में किया गया है।

"अलङ्कारकौस्तुभ" का एक उद्देश्य यह भी था कि अलंङ्कारों की बढ़ती हुई संख्या रोकी जाय, और इसी लिए इन्होंने मम्मट के द्वारा उपन्यास ६१ ही अलङ्कारों का वर्णन यहाँ किया है। तथा अन्य अलंकारों का उन्हीं में अन्तर्भाव कर दिया है। नव्य न्याय की शैली इस ग्रन्थ की भूयसी विशेषता है, तथा अलङ्कारों के लक्षण का परिष्कार इनकी मौलिक विचारधारा का प्रदर्शक है। उपमालङ्कार का विवेचन यहाँ डेड़ सौ बड़े पृष्ठों में किया गया है। इनके छोटे-छोटे सरल ग्रन्थ भी इस विषय में ये हैं—

अलङ्कार मुक्तावली, रसचन्द्रिका, अलंकार प्रदीप तथा कवीन्द्रकण्ठाभरण।

आलोचनाशास्त्र के मान्य आचार्यों में विश्वेश्वर पण्डित ही अन्तिम आलंकारिक माने जाते हैं।

प्रथम उल्लास

काव्यप्रकाश का प्रतिपाद्य विषय
"मङ्गलाचरण"

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ।।१।।

नियति के द्वारा निर्धारित, नियमों से रहित, केवल आनन्दमात्रस्वभाव वाली काव्य-रूपी-जगत् का निर्माण करने वाली कवि की भारती (वाणी-सरस्वती) सर्वोत्कृष्टशालिनी है ।।१।।

प्रारब्ध कार्य की निर्विघ्नतापूर्वक समाप्ति के लिए काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ग्रन्थ के आरम्भ में अपने इष्ट देवता 'वाणी' को नमस्कार करते हैं ।

उक्त मङ्गलाचरण में ग्रन्थकार ने यह दिखलाया है कि ब्रह्मा की सृष्टि (निर्मिति) की अपेक्षा कवि-भारती की रचना (सृष्टि) कहीं अधिक उत्कर्ष शाली है । क्योंकि ब्रह्मा की कृति की अपेक्षा इसमें चार विशेषतायें, जो व्यतिरेकमुख से प्रदर्शित की गई है, वे सहृदय हृदयों को सर्वदा प्रतीत होती हैं ।

(१) सृष्टि के विषय में विभिन्न दार्शनिकों के विभिन्न मत हैं । मीमांसक सृष्टि का मूलकारण कर्म (धर्माधर्म विशेष) को मानते हैं, तो सांख्यदर्शन सृष्टि का मूलकारण सत्व, रज व तमोगुणस्वरूपा प्रकृति को मानता है और न्यायदर्शन सृष्टि का मूल कारण परमाणु को मानता है । पर ये सब नियतिकृत नियम से सहित हैं । पर कवि की सृष्टि नियतिकृत नियम से रहित है । कवि की सृष्टि में ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा यह पहली विशेषता है । कहने का अभिप्राय यह है कि "नियति" शब्द के यहाँ दो अर्थ हैं "नियम्यन्ते सौरभादयो धर्माः अनयेति नियतिरसाधारणो धर्मः पद्मत्वादिकरूपः अर्थात् जिसके द्वारा सौरभ आदि धर्मों का नियन्त्रण किया जाता है वे पद्मत्वादि रूप असाधारण धर्म नियति पद से कहे जाते हैं । उसके द्वारा किया गया नियम है—"यत्र पद्मत्वं तत्र सौरभविशेषः" जहाँ पद्मत्व होता है, वहाँ विशेष प्रकार का सौरभ होता है । इस प्रकार की व्याप्ति को "नियतिकृतनियम" कहा जाता है । ब्रह्मा की सृष्टि इस नियतिकृतनियम से युक्त है । क्योंकि उसकी सृष्टि में इसप्रकार व्याप्ति पाई जाती है । परन्तु कवि की सृष्टि में इस प्रकार का कोई नियम

नहीं है। क्योंकि आनन्दवर्धनाचार्य ने कवि को स्वयं प्रजापति कहा है और काव्य जगत् को कवि का संसार कहा है—

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः ।
यथाऽस्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥१॥

इस काव्य-सृष्टि में कवि के लिये कोई बन्धन नहीं है। यहाँ कान्ता के मुखकमल में भी कवि प्रतिभा से सौरभ उद्भासित हो जाता है। नियत शब्द का दूसरा अर्थ, अदृष्ट या धर्माधर्म है। ब्रह्मा की सारी सृष्टि "अदृष्ट" के सिद्धान्त पर स्थिर है। प्राणियों के पूर्वकृत धर्माधर्म के निमित्त तदनुसार सुखदुःख रूप फल को भोगने के लिए स्वर्ग-नरकादि सृष्टि का निर्माण होता है।

परन्तु कवि की सृष्टि इन सब बन्धनों से परे हैं। कवि केवल अपनी कल्पना के बल पर अपने पात्र को स्वर्गीय ऐश्वर्य से संयुक्त करा देता है। उसके लिए देहान्तर या अपूर्व देह की आवश्यकता नहीं है।

अतः कविसामर्थ्य ब्रह्मा के सामर्थ्य से कहीं अधिक है।

(२) कवि सृष्टि की दूसरी विशेषता यह है कि वह आनन्दमय है। जबकि सांख्य-दर्शन के अनुसार यह संसार सुख-दुःख, मोहमय है। क्योंकि इस संसार का मूल कारण प्रकृति है, और वह सत्वरजतमो गुणस्वरूपा है। कहा भी है—"**सत्वरजतमसां साम्यावस्था प्रकृतिः**"। "**कारण गुणाः कार्यगुणानारभन्ते**" इस नियम के अनुसार प्रत्येक जागतिक पदार्थ सत्त्वरज और तमोगुण के कार्यस्वरूप सुखदुःखमोह वाला होगा।

काव्यप्रकाश की प्रदीप टीका की व्याख्या प्रभा में इस बात का और भी स्पष्टीकरण किया है—"**एकस्या एव कामिन्या कंचित् प्रति सुखात्मकसत्त्वसमुद्भूतत्वम्, सपत्नीं प्रति दुःखात्मकरजः समुदभूतत्वम्, स्वमलभमानं प्रति तमोरूपमोहसमुद्भूतत्वमिति रीत्या सर्वपदार्थानां सुखदुःखमोहात्मकत्वमिति सांख्यमतानुसारेणेदम्**"।

अर्थात्—किसी पदार्थ में किसी के प्रति सत्त्वगुण समुत्कट तो उसके लिए वह सुखस्वरूप है, यदि रजोगुण है तो वह दुःखस्वरूप है, और यदि तमोगुण समुत्कट है तो वह मोहस्वरूप है।

इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ सुखदुःखमोहात्मक है।

परन्तु कवि की सृष्टि में दुःख का अस्तित्त्व ही नहीं है। उसकी सृष्टि में तो महाकवि भवभूति के अनुसार "**अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।**" अपनी सहृदयतावश या **कविप्रतिभाजन्यपरितापस्फुरित स्वयं प्रस्तर**

भी आँसू गिराते हैं, और वज्र का भी हृदय पिघल जाता है। पर ये ही पदार्थ अपने पाठक को कितना आनन्द प्रदान करते हैं, इसको तो केवल सहृदय ही जानता है।

कवि की कृति में तो रुदन और क्रन्दन से भरा हुआ करुण भी आनन्दानुभूति स्वरूप ही है—

साहित्यदर्पणकार का भी यही कहना है—

करुणादावपि रसे जायते यत् परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥१॥

इसलिए कवि की सृष्टि ह्लादकमयी—केवल सुखमयी है।

(३) कवि सृष्टि की तीसरी विशेषता है, उसका "अनन्यपरतन्त्रा" होना। **अर्थात्**—वह कवि की प्रतिभा के सिवाय और किसी के परतन्त्र नहीं हैं। जब कि ब्रह्मा की सृष्टि, परमाणु आदि उपादान (समवायि) कारण, और ईश्वरेच्छा द्वारा जो परमाणुओं में स्पन्दनादि कर्म है, ऐसे निमित्त व असमवायि कारणों के परतन्त्र है।

कहने का तात्पर्य यह कि—न्यायदर्शन के अनुसार सृष्टि का मूल उपादान कारण परमाणु है, परिमाणुओं में ईश्वरेच्छावश जब आपस में स्पन्दन होता है तो परमाणुद्वय संयोग से आगे द्व्यणुकादि की उत्पत्ति होती है, पुनः तीन द्व्यणुओं द्वारा त्रसरेणु, इस प्रकार क्रमशः स्थूल पृथिवी की उत्पत्ति होती है। पर यह सब तभी हो सकता है, जब परमाणुओं के स्पन्दन निमित्त ईश्वरेच्छा हो, और ईश्वरेच्छा तत्तत् प्राणियों के धर्माधर्म "अदृष्ट" पर निर्भर है। न तो वह स्वेच्छया परमाणुओं का ही निर्माण कर सकता है और न बिना प्राणियों के अदृष्ट को देखे स्पन्दनादि व्यापार में ही समर्थ है। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि प्राणियों के पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म ही एक मात्र उनके भोगानुकूल परमाणुओं के निर्माण में तथा उनके आरम्भ के कारण हैं, तदनुकूल पुनः ब्रह्मा को सृष्टि करनी पड़ती है। इसीलिए लिखा है कि ब्रह्मा की परमाण्वादि-उपादान-सामग्री के परतन्त्र है। पर प्रतिभाशील कवि के विषय में इतनी झञ्झट नहीं है।

(४) ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा कवि की सृष्टि की चौथी विशेषता यह है कि—ब्रह्मा की सृष्टि केवल मधुर-अम्ल, लवण, कटु, कषाय, और तिक्त ये छै ही रस हैं, ये भी सभी रस सबके लिए प्रिय नहीं हैं, पर कवि की सृष्टि में शृङ्गारादि—नौ रस हैं। जैसा कि कहा है—"**नवरसरुचिराम्**" इत्यादि। एक तो ये संख्या में अधिक हैं दूसरा सभी के सभी हृद्य है। सभी आनन्दस्वरूप हैं।

इसलिए भी कविसृष्टि नवरसा तथा रुचिरा होने के कारण ब्रह्मा की सृष्टि से उत्कृष्ट है।

अतः इस मङ्गलश्लोक में उपमानभूत ब्रह्मसृष्टि की अपेक्षा उपमेयभूत कविसृष्टि में उत्कर्ष की प्रतीति होती है। इसलिए यहाँ व्यतिरेकालङ्कार व्यंग्य है।

पुनश्च शिल्प के उत्कर्षमुख से शिल्पी के उत्कर्षरूप वस्तु की भी अभिव्यञ्जना होती है।

पर्यन्त में "भारती कवेर्जयति" इत्यादि पदों के द्वारा जहाँ कवि का काव्यरूप भारती (वाणी) के प्रति जन्यजनकभाव सम्बन्ध है, और दूसरे पक्ष में आराध्य-देवता (सरस्वती) के प्रति आराध्य-आराधक सम्बन्ध है।

पुनश्च—ग्रन्थकार का वाणी की अधिष्ठात्री (भारती) देवी सरस्वती के लिए नमस्कार का आपेक्ष होगा—अर्थात् व्यञ्जना वृत्ति द्वारा सरस्वती के प्रति ग्रन्थकार का नमन अभिव्यक्त है।

अतः मम्मटनिष्ठ भारती विषयकभाव के अभिव्यक्त होने से भावध्वनि भी है।

भगवती श्रुति भी उस अखण्डब्रह्माण्डनायक (ईश्वर) को कवि के नाम से पुकारती है, न तो उसे शाब्दिक कहती है और न तार्किक।

इस जगत् का निर्माता तथा नियन्ता न वैय्याकरण कहा गया है, और न नैय्यायिक परन्तु कहा गया है कवि। "कविर्मनीषी परिभूः स्वयंम्भूः" इत्यादि उपनिषद् वाक्य इसके यथार्थ पोषक हैं। इसलिए भारतीय संस्कृति में कवि का आदर सर्वतोभावेन विराजमान है। यह कवि के लिए गौरव की बात है—

स्तोतुं प्रवृत्ता स्तुतिरीश्वरं हि ।
न शाब्दिकं प्राह न तार्किकं वा ॥
ब्रूते हि तावत् कविरित्यभीक्ष्णम् ।
काष्ठा परा सा कविता ततो नः ॥ (शिवलीलार्णव १।१६)

काव्य का प्रयोजन

संसार में किसी भी कृति का कोई न कोई प्रयोजन (उद्देश्य) अवश्य होता है। अतः कवि की कृति (काव्य-रचना) में भी कोई न कोई प्रयोजन अन्तर्निहित अवश्य होगा, जिसका प्रतिपादन अवश्य है, अन्यथा—यदि प्रयोजन का प्रतिपादन ग्रन्थ के प्रारम्भ में न किया जाय तो, पाठकों को अभिलषित वस्तु (इष्टसाधनता) का ज्ञान नहीं होगा, उस अभीप्सित (इष्ट) के ज्ञान के

अभाव में पाठकों, की ग्रन्थ पढ़ने में प्रवृत्ति नहीं होगी। अतः ग्रन्थकार प्रयोजन के अभिमुख प्रवृत्ति दिखलाते हुए काव्य के प्रयोजन का निरूपण करते हैं—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥२॥

काव्य का निर्माण यश की प्राप्ति के लिए है। जैसे—कालिदास तथा भवभूति ने अपने काव्यों के द्वारा ही विपुल कीर्ति को अर्जित किया। कालिदास व भवभूति आदि महाकवियों को इस धराधाम को छोड़े हुए न मालूम कितने वर्ष बीत गये पर उनके काव्यग्रन्थ उनका विमल यश अभी तक फैला रहे हैं। रससिद्ध कवियों का यश चिरस्थायी होता है, इस बात को महामनीषी महाराजा भर्तृहरि ने कितने सुन्दर ढंग से कहा है—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम् ॥१॥

(२) धन प्राप्ति के निमित्त भी काव्य रचना की जाती है। कविगण अपने आश्रयदाता की कीर्ति का गुणगान किया करते थे। इसके फलस्वरूप उन्हें उपहार में काफी धनराशि मिलती थी। धावक तथा बाण ने भी अपने आश्रयदाता "श्रीहर्ष" से काव्यरचना द्वारा अतुल सम्पत्ति प्राप्त की। तात्कालिक इतिहास इसका साक्षी है।

(३) व्यवहारज्ञान, कराने के लिए भी काव्य की रचना की जाती है। काव्य के द्वारा ही हमें राजदरबारों का और तत्सम्बन्धी मन्त्रि अमात्यादियों के व्यवहार का उचित ज्ञान होता है, और भी काव्य के अनुशीलन से ही हम किसी युग विशेष के लोगों का या समाज का आचरण तथा व्यवहार भलीभांति जान सकते हैं।

(४) अमङ्गल का निवारण या शिवेतरक्षति के लिए भी काव्य का निर्माण किया जाता है। कवि अपनी रचना द्वारा कभी विशिष्ट देवताओं की स्तुति करता है, जिससे प्रसन्न होकर वे देवता रचयिता के अमंगल (संकट) को दूर कर देते हैं।

साहित्य में इसके बहुत उदाहरण मिलते हैं। सातवीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवि मयूरभट्ट कुष्ठ रोग से पीड़ित हो गये थे। उन्होंने अपने कुष्ठ रोग की निवृत्ति के लिए भगवान् भास्कर की स्तुति में सूर्यशतक नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। मयूर की इस भव्य-स्तुति से प्रसन्न होकर भगवान् भास्कर ने उन्हें कुष्ठ रोग से निवृत्त कर दिया। अन्य कवियों के विषय में भी ऐसी ही कथायें प्रचलित हैं।

(५) इन प्रयोजनों में सद्यः परमानन्द की प्राप्ति ही काव्य का मुख्य प्रयोजन है। काव्य-पाठ में तल्लीन हुआ पाठक कभी अलौकिक आनन्द का अनुभव करता है। इस समय वह सांसारिक-प्रपञ्च से जल में कमल की भांति कुछ पृथक् सा रहता है। अर्थात्-उस समय पाठक सहृदय को (वेद्यान्तर) किसी अन्य वस्तु का ज्ञान ही नहीं होता है। यह आनन्दानुभूति ही काव्य का "सकल प्रयोजन मौलिभूति" प्रयोजन है।

(६) कान्ता के समान उपदेश दान भी काव्य के मुख्य प्रयोजनों में अन्यतम है। यह कान्तासम्मित उपदेश-राजाज्ञा के तुल्य शब्द प्रधान वेदादि शास्त्रों से, और मित्र के तुल्य अर्थ प्रधान पुराणेतिहासादियों से विलक्षण भावना प्रधान होता हुआ सरस तथा मधुर शब्दों द्वारा असन्मार्ग में स्थित व्यक्ति को "रामादि की तरह आचरण करना चाहिए, न कि रावण की तरह" इस प्रकार के उपदेश से सन्मार्ग की ओर अभिमुख करा देता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि उपदेशक शब्द तीन प्रकार के होते हैं। प्रभुसम्मित, मित्रसम्मित, तथा कान्तासम्मित शब्द।

प्रभुसम्मित शब्द—वेदादि वाक्य हैं, जो राजाज्ञा की तरह हैं, इनको अक्षरशः पालन करना पड़ता है और इनके शब्दों को जरा भी इधर-उधर नहीं किया जा सकता अर्थात्-शब्दावली-या वाक्य विन्यास के आनुपूर्वी को किसी स्थिति में भी शिथिल नहीं किया जा सकता है। वेद वाक्यों का अन्यथा उच्चारण में या आज्ञा न मानने में एक "प्रत्यवाय" नामक दोष लग जाता है। विना किसी ननु न च किए आज्ञा पालन करना, और उसी क्रम से उच्चारण करने में वेद पढ़ने का पुण्य। अतः वेदादिवाक्य शब्द प्रधान हैं।

दूसरे उपदेशक शब्द है मित्रसम्मित—मित्र अपने मित्र को उचित कार्य करने के लिए तथा अनुचित कार्य के परित्याग के लिए उपदेश करता है। पर मित्र का उपदेश राजाज्ञा या वेद वाक्य की तरह उसे उस कार्य के अनुष्ठान के लिए मजबूर भी नहीं करता, और न इस उपदेश की शब्द में ही प्रधानता रहती है अपितु अर्थ में इसका तात्पर्य रहता है, यह शैली इतिहास पुराणादि की शैली है। इसी शैली को ग्रन्थकार ने "सुहृत्सम्मित" या मित्रतुल्य उपदेश कहा है।

इन दोनों प्रकारों से भिन्न काव्य की उपदेश शैली का नाम है—कान्तासम्मित शब्द या कान्ता के समान उपदेश दान—इस प्रकार के उपदेश में शब्द व अर्थ दोनों ही अप्रधान हो जाते हैं, अपितु रसाङ्गभूत—जो व्यञ्जना व्यापार, इसी व्यापार की महिमा से सरसतापूर्ण-उपदेश, पाठक व श्रोता के चित्त को एकाएक आकृष्ट करके सत्कार्य की ओर प्रवृत्त करा देता है। अन्य शास्त्रों से यही काव्य का वैशिष्ट्य है।

विभिन्न-धारायें

काव्य के प्रयोजन के प्रसङ्ग में विभिन्न विद्वानों की अनेक तरह की धारणायें है। संक्षेप में दिग्दर्शन किया जाता है—

आचार्य वामन के मत में काव्य दृष्ट (ऐहलौकिक) तथा अदृष्ट (पारलौकिक) दोनों तरह के फल को देता है। जीवन काल में आनन्द और मृत्यु के बाद यश देता है।

अर्थात्—काव्य-रचना की प्रतिष्ठा को यशः प्राप्ति का मार्ग कहा है—

काव्यं सद् दृष्टाऽदृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात् ॥५॥

काव्यं सत्=चारुदृष्ट प्रयोजनं, प्रीति हेतुत्वात्। अदृष्टं प्रयोजनं कीर्तिहेतुत्वाद्।

"प्रतिष्ठां काव्यबन्धस्य यशसः सरणि विदुः" ॥ इत्यादि।

वक्रोक्ति जीवितकार आचार्य कुन्तक की सम्मति में—

काव्यामृत का रस उस (काव्य) को समझने वाले सहृदयों के अन्तःकरण में चतुर्वर्ग रूप फल के आस्वाद से भी बढ़कर चमत्कार उत्पन्न करता है।

आगे स्वयं उन्होंने इसके अभिप्रायको स्पष्ट करते हुए कहा है—जो चतुर्वर्गफल प्रकृष्ट पुरुषार्थ होने के कारण सब शास्त्रों के प्रयोजन रूप में प्रसिद्ध है वह भी इस काव्यामृत रस की चर्वणा के चमत्कार की कलामात्र के साथ भी किसी प्रकार की बरावरी नहीं कर सकता है। (वह) सुनने में कटु, बोलने में कठिन, और समझने में मुश्किल आदि अनेक दोषों से दुष्ट और पढ़ने के समय में ही अत्यन्त दुखःदायी शास्त्र संदर्भ हैं। पढ़ने के साथ ही अलौकिक चमत्कार को उत्पन्न करने वाले काव्य की बराबरी (स्पर्धा) किसी प्रकार भी नहीं कर सकता है। यह बात अर्थापत्ति प्रमाण से प्रतीत होती है।

अतः शास्त्र कड़वी औषधि के समान अविद्या रूप व्याधि का नाश करता है, और काव्य आनन्ददायक-अमृत के समान अज्ञानरूप रोग का नाश करता है।

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् ।
काव्यामृत रसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥५॥

अयमभिप्रायः—योऽसौ चतुर्वर्गफलास्वादः प्रकृष्ट पुरुषार्थतया सर्वशास्त्रप्रयोजनत्वेन प्रसिद्धः, सोऽप्यस्य काव्यामृतचर्वणचमत्कार कलामात्रस्य न कामपि साम्यकलनां कर्तुमर्हति, दुःश्रवदुर्भण-दुरधिगमत्वादिदोषदुष्टोऽध्ययनावसरः एव

सुदुःसहदुःखदायी, शास्त्रसन्दर्भस्तत्कालकल्पितकमनीयचमत्कृतेः काव्यस्य न कथञ्चिदपि स्पर्धामधिरोहतीत्येतदप्यर्थतोऽभिहितं भवति ।

कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्या व्याधिनाशनम् ।
आह्लाद्यामृतवत् काव्यमविवेकगदापहम् ॥७॥

आचार्य भामह ने काव्यफलों निरूपण करते हुए कहा है—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्ति प्रीतिं च साधु काव्यनिबन्धनम् ॥

ये फल भामह ने केवल काव्य-रचना करने वाले कवि के लिए ही कहे हैं न कि पाठक के लिए, परन्तु कीर्ति को छोड़कर अन्य सभी फल तो पाठक को भी प्राप्त हो सकते हैं; इसीलिए विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ साहित्य दर्पण में कुछ पाठ परिवर्तन के साथ इस श्लोक को रखा है, "साधु काव्यनिवन्धनम्" की जगह पर "साधु काव्यनिषेवणम्" यह पाठ रखा है ।

मम्मट की सद्यः परा निर्वृत्ति ही कुन्तक की "अन्तश्चमत्कार" है। यही आनन्दानुभूति काव्य का परम प्रयोजन है ।

भारतीय दर्शन के अनुसार भी इसी परम पुरुषार्थ आनन्दावाप्ति स्वरूप मोक्ष के लिए ही सभी प्राणियों की प्रवृत्ति होती है। पर यह तभी सम्भव है, जब व्यक्ति प्रपञ्च पराङ्मुख रहे, या सांसारिक पदार्थों में आसक्ति छोड़ दे। उपनिषदों में लिखा है कि मानव की तीन एषणायें होती हैं। (१) पुत्रैषणा, (२) वित्तैषणा और (६) लोकैषणा, अन्य शब्दों में इन्हें काम, अर्थ और धर्म कह सकते हैं। यही संसार में समस्त मानव प्रवृत्तियों की मूल मानी जाती है। परन्तु इन तीन पुरुषार्थो के अतिरिक्त एक मोक्ष नाम का परमपुरुषार्थ भी है, जहां आत्मा की साक्षात् अनुभूति कलात्मक चिन्तन (शास्त्र द्वारा) या रसात्मक प्रेरणा द्वारा होती हैं। इसी स्थिति की प्राप्ति के लिए यावत् कला, यावत् शास्त्र, यावत् काव्य निरन्तर प्रवृत्त है। इसी के लिए कवियों की काव्य में प्रवृत्ति कभी कभी स्वान्तःसुखाय भी होती है। इसी आत्मा को जानना ही भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन का सर्वश्रेष्ठ फल है ।

"आत्मानं विजानीहि ॥ इति ॥

काव्य का कारण

काव्य की रचना करने वाले व्यक्ति को कवि कहते हैं, राजशेखर के अनुसार कवि शब्द की निष्पत्ति "कवृवर्णें—इस धातु से ई प्रत्यय लगाने से हुई है, कवि का अर्थ है वर्णनकर्त्ता—अर्थात्—रसभावादि का विमर्शक इस प्रकार लोकोत्तर वर्णना में निपुण कवि के कर्म को काव्य कहते हैं। यशः प्रभृति फल से सम्पन्न काव्य सर्वथा उपादेय व उपेय हैं—

इसी के समुल्लास के लिए आचार्य मम्मट उपायों का वर्णन करते है—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥३॥

काव्य के समुल्लास-उद्भव में शक्ति-प्रतिमा-अर्थात्-कवित्व बीजरूप-संस्कारविशेष, और लोक-व्यवहार शास्त्र एवं काव्यादि के पर्यालोचन से व्युत्पत्ति-निपुणता, और काव्यज्ञ विद्वानों की शिक्षा का अभ्यास, ये तीनों-शक्ति-निपुणता-व-अभ्यास सम्मिलित (समष्टि) रूप से कारण हैं ।

"इति हेतुस्तदुद्भवे" में **"हेतु नं तु हेतवः"** ऐसी व्याख्या वृत्ति में की है, इसका अभिप्राय यही है कि यहां काव्य की उत्पत्ति में उक्त शक्ति-निपुणता अभ्यास की सम्मिलित हेतुता है न कि पृथक्-पृथक् । अत एव हेतु शब्द में एकवचन का ही प्रयोग किया, वहुवचन का प्रयोग नहीं किया ।

अर्थात्—जैसे तृण से, मणि से, व अरणि से सहायान्तरनिरपेक्ष रूप में अलग-अलग अग्निरूपी कार्य उत्पन्न होता है वैसे यहाँ सहायान्तरनिरपेक्ष-काव्योत्पत्ति कार्य नहीं होता है, इस प्रक.र के हेतु जो पृथक रहकर कार्योत्पत्ति के कारण होते हैं—उनमें तृणारणीमणि न्याय चरितार्थ होता है । परन्तु यहाँ काव्योल्लास शक्ति निपुणता व अभ्यास की सम्मिलित हेतुता होने के कारण दण्डचक्रचीवरादि न्याय चरितार्थ होगा ।

अर्थात्—घटरूपी कार्य में जैसे दण्डचक्र व चीवर ये सभी कारण अपेक्षित है इनमें से एक की भी अनुपस्थिति वाञ्छनीय नहीं होती, उसी प्रकार काव्योत्पत्ति-कार्य में भी उक्त तीनों हेतुओं की सम्मिलितावस्था अपेक्षित है, इनमें एक की भी यदि अनुपस्थिति हुई तो अनुपहसनीय काव्य का निर्माण नहीं हो सकता, यही "हेतुः" इस एकवचन का स्वारस्य है ।

काव्य की कारणता के विभिन्न पक्ष

संस्कृत आलोचनाशास्त्र में काव्य की कारणता के प्रसंङ्ग में अनेक प्रकार के मत मतान्तर दिखाई देते हैं, अधिकतर आचार्य कारण-त्रितय पक्ष के ही समर्थक दिखाई देते हैं, पर उनके कारणों की संज्ञा में केवल भेद मालूम पड़ता है ।

आचार्य दण्डी के मत में भी प्रतिभा, शास्त्रज्ञान व निरन्तर अभ्यास ही काव्य की साधना है—

नैसर्गिकी च प्रतिभा, श्रुतञ्च बहुनिर्मलम्, ।
अमन्दश्चाभियोगश्च कारणं काव्यसम्पदः ॥ (१।१०३ का० द०)

आचार्य वामन भी इस विषय में दण्डी के ही अनुयायी हैं। वे प्रतिभा शब्द को "प्रतिभानम्" शब्द से कहते हैं, और इसी को कवित्व का बीज मानते हैं। यह प्रतिभा या प्रतिभान, जन्मजन्मान्तर का संस्कार विशेष है, इसके अभाव में कवित्व का स्फुरण ही नहीं होता है, इसके अतिरिक्त वे लोकवृत्त-लोकव्यवहार तथा प्रकीर्ण-काव्यत्र-वृद्ध-सेवा को भी आवश्यक मानते हैं। लिखा भी है—

लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि ।।१।। इत्यादि

इनके सहायक कारण हैं, चित्त की एकाग्रता, विविक्तदेशसेवित्व, अथवा ब्राह्ममुहूर्त—प्रातः चार बजे का समय, और पदों अवापोद्वाप अर्थात् पदों का परिवर्तन, काव्य के परिपाक के लिए उचित पदों का विन्यास व अनुरूप पदों का अपसारण पुनः उनका निरीक्षण भी आवश्यक है—

आधानोद्धरणे तावत् यावद्दोलायते मनः ।
पदस्य स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती ।।
यत् पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्ति सहिष्णुताम् ।
तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते ।।२।।

आचार्य रुद्रट ने भी काव्यकारणों के प्रसङ्ग में प्रतिभा व्युत्पत्ति व अभ्यास को एक साथ कारण माना है। प्रतिभा के स्थान पर वे शक्ति का प्रयोग करते हैं—और उनका लक्षण भी प्रस्तुत करते हैं—एकाग्रचित्त होने पर अर्थों का जहाँ अनेक प्रकार से स्फुरण होता है, कमनीय पद कवि के सामने स्वयं उपस्थित हो जाते हैं उसे शक्ति या प्रतिभा कहते हैं।

उनके शब्दों में शक्ति का लक्ष्य यह है—

मनसि सुसमाधिनी सदा, विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य ।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्याममौ शक्तिः ।। (१।१५)

आचार्य आनन्दवर्धन की सम्मति में व्युत्पत्ति तथा प्रतिभा दोनों में प्रतिभा ही श्रेयस्कर है। शास्त्र की व्युत्पत्ति न रखने वाला कवि अपने काव्य में अनेक दोषों का सम्पादन कर बैठता है। प्रतिभा इन समस्त दोषों को दूर कर देती है; प्रतिभा के प्रबल समर्थक आनन्दवर्धनाचार्य की यह उक्ति अत्यन्त स्पष्ट है—

अव्युत्पत्ति कृतो दोष शक्त्या संव्रियते कवेः ।
यस्त्वशक्ति कृतस्तस्य झटित्येवावभासते ।।१।।

आचार्य कुन्तक के मत में कवि का स्वभाव ही काव्य का मूल कारण है, इस स्वभाव के अनुसार ही कवि की व्युत्पत्ति होगी, और तदनुसार ही कवि

का अभ्यास भी होगा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास तो केवल प्रतिभा के परिपोषक मात्र हैं। वस्तुतः काव्य बन्ध तो कवि स्वभाव पर आश्रित हैं, यद्यपि कुन्तक ने स्वतन्त्र काव्य हेतुओं पर विचार नहीं किया फिर काव्य मार्ग के प्रसङ्ग में वे कवि स्वभाव की व्याख्या करते हुए कहते हैं।

"कविस्वभावभेदनिबन्धत्वेन काव्यप्रस्थानभेदः समञ्जसतां गाहते। सुकुमारस्वभावस्य कवेस्तथाविधैव सहजा शक्तिः समुद्भवति, शक्तिशक्तिमतोरभेदात् तथा च तथाविधसौकुमार्यरमणीयां व्युत्पत्तिमावघ्नाति।"

राजशेखर ने लिखा है कि श्यामदेव नामक आलंकारिक के मत में काव्य-कर्म में सबसे अधिक सहायक वस्तु "समाधि" है अर्थात्—"चित्त की एकाग्रता", आचार्य मलंग "अभ्यास" को ही अधिक उपयोगी मानते हैं : परन्तु राजशेखर का मत इन दोनों से भिन्न है, वे शक्ति को ही काव्य-कला के उन्मीलन में प्रधान हेतु मानते हैं।

समाधि तथा अभ्यास तो शक्ति के उद्भासक मात्र हैं। काव्य-कला के उन्मीलन में साक्षात् हेतु तो शक्ति ही है।

पण्डितराज जगन्नाथ भी केवल प्रतिभावादी हैं। उनके शब्द इन प्रकार हैं—"**तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा**" प्रतिभा का लक्षण करते हैं—काव्यरचनानुकूल शब्दार्थों की उपस्थिति, और उस प्रतिभा में रहने वाली एक प्रतिभात्व जाति विशेष है। अर्थात—काव्य निष्ठ कार्यता के प्रति समवाय सम्बन्ध से अवछिन्न प्रतिभा में रहने वाली जो कारणता है, वह किसी न किसी धर्म से अवच्छिन्न रहेगी, अतः प्रतिभावृत्ति कारणता भी प्रतिभात्व धर्म से अवच्छिन्न होती रहेगी, क्योंकि यह नियम है जो जो कारणता होती है वह किञ्चिद्धर्मावच्छिन्न होती हैं, अतः प्रतिभा में रहनेवाली कारणता भी प्रतिभात्व धर्मावच्छिन्ना होगी, इसीलिए प्रतिभा को जाति विशेष कहा है।

इस प्रतिभा के फिर दो कारण मानते हैं—

एक अदृष्ट—अर्थात् जन्मान्तरीय कवित्वबीजरूप संस्कार विशेष—और दूसरा—व्युत्पत्ति एवं अभ्यास।

अदृष्ट का अर्थ पुण्य—मन्त्र तन्त्र जन्य भी माना है। कहा भी है—

"मन्त्रानुष्ठाननिष्ठस्य नेदिष्ठा कविराजता॥"

जैसे श्रीहर्ष के विषय में कहा गया है—"**तच्चिन्तामणि मन्त्रचिन्तनफले-काव्ये महाचार्णि**" इत्यादि मन्त्रानुष्ठान जन्म महाफल उनका नैषधीय चरित महाकाव्य है। और कहीं लोक-शास्त्र व काव्यादि के अनुशीलन भी काव्य या प्रतिभा का कारण माना गया है।

इस प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ ने केवल प्रतिभा को ही काव्य का कारण माना और काव्य निष्ठ कार्यता निरूपित कारणता का अवच्छेदक प्रतिभात्व होगा।

इस प्रकार संस्कृत साहित्य में काव्य कारणता के विषय में सम्मिलित कारणतावाद तथा केवल कारणतावाद का कौतुक काव्य रसिकों के आलोचना चक्षु के लिए अत्यन्त रमणीय आस्वाद्य तथा मननीय है।

वस्तुतः कवित्व के आधार स्तम्भ दो ही हैं दर्शन और वर्णन। इन दोनों के परिपूर्ण होने पर ही सत्कवित्व का उन्मेष होता है। दर्शन का सम्बन्ध आन्तरिक प्रतिभा से और वर्णन का सम्बन्ध शब्दार्थ की समुचित उपस्थिति से है।

बाल्मीकि महर्षि तत्त्वों के द्रष्टा थे, परन्तु जब तक उन्होंने अपने अनुभूत-आन्तरिक-प्रतिभा ज्ञान को शब्दों के माध्यम से नहीं प्रकाशित किया तब तक उन्हें आदिकवि या महाकवि की महनीय संज्ञा नहीं प्राप्त हुई। क्रौञ्च पक्षी के निधन से उत्पन्न हुए करुण स्वर ने जब उनके कारुणिक हृदय को पिघला दिया तब उनका आन्तरिक शोक ही

मा निषाद प्रतिष्ठात्वमगमः शाश्वती समा।।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधी काममोहितम् ।।

इत्यादि श्लोक में परिणत हुआ। इसीलिए मीत की यह उक्ति भी सत्य ही है कि कवि ऋषि ही होता है, अनृषि नहीं होता।

"**ऋषयोमन्त्रद्रष्टारः**" अतः दर्शन व वर्णन ये दोनों कवि के मुख्य पाथेय हैं।

काव्य का लक्षण

"**लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः**" किसी भी वस्तु की सिद्धि लक्षण अथवा प्रमाण से होती है इस नियम के अनुसार काव्य के प्रयोजन व कारण के निर्वचनानन्तर काव्य पद प्रवृत्ति निमित्यर्थक या काव्य के व्यवहार के लिए उसके लक्षण का निरूपण करते हैं—

"**तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वाऽपि**"

दोषरहित और गुणरहित कहीं कहीं अलङ्कारों से रहित भी शब्द और अर्थ (दोनों की समष्टि) काव्य कहलाते हैं।

अर्थात्—काव्य शब्द और अर्थ के मञ्जुल समन्वय में विराजमान हैं, जिस प्रकार "अर्धनारीश्वर"—शिव और पार्वती का नित्य सम्बन्ध है, उसी प्रकार शब्द और अर्थ भी काव्य में नित्य समभाव से रहते हैं। पर ये शब्दार्थ तीन विशेषणों से विशिष्ट होने चाहिए।

(क) दोषों से रहित (ख) गुणों से सहित (ग) अलंकार रहित भी यदि कहीं कहीं हो तो क्षति नहीं है।

(१) रस के विघातक कतिपय प्रबल दोष, जो रस के प्रतीति के प्रतिबाधक हों वे दोष काव्य में नहीं होने चाहिए। यद्यपि दोष सामान्याभाव या निर्दुष्ट काव्य सर्वथा दुर्लभ है, फिर साक्षात् या परम्परया-शब्दार्थ द्वारा जो दो उद्देश्य प्रतीति के प्रतिबन्धक हों उन दोषों से रहित हो।

(२) गुणों की सम्पत्ति—शब्दार्थ को गुणों से सहित-युक्त होना आवश्यक है। काव्य के मुख्य तीन गुण हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद। ये गुण काव्य के आत्मभूत रस के नित्य धर्म हैं। रस के धर्म होने के कारण ही रस के साथ इनका साक्षात् सम्बन्ध है और अप्रधान रूप से परम्परया ये शब्द और अर्थ में भी रहते हैं। जिन शब्द और अर्थ से काव्य सम्पन्न होता है, उनमें गुणों की स्थिति आवश्यक है।

(३) अलंकार की वैकल्पिक स्थिति—काव्यगत शब्द तथा अर्थ को सर्वथा अलंकार से युक्त होना बहुत जरूरी नही हैं। परिस्थिति विशेष में ही अलंकार की अपेक्षा है। इस प्रसङ्ग में काव्यप्रकाश के प्रसिद्ध टीकाकार गोविन्द ठक्कुर ने अपनी प्रौढ़ टीका प्रदीप में एक मार्मिक टिप्पणी दी है—जिसका सार यह है—प्रदीपकार का कहना है कि चमत्कार सार ही तो काव्य है। और वह चमत्कार या तो रस के द्वारा अभिव्यक्त होगा, अथवा अलंकार के द्वारा जहाँ रस की स्थिति है वहाँ किसी अन्य अलंकार की अपेक्षा नहीं है। इस बात को स्वयं ध्वनिकार ने भी कहा है कि निबन्ध का वाक्यार्थ जहाँ स्वतः रसानुकूल हो ऐसी स्थिति में अलंकार की अनुपस्थिति में भी प्रबन्ध किसी अनिर्वचनीय विच्छित्ति को परिपुष्ट करता ही है।

परन्तु ऐसी स्थिति में जहाँ शब्दार्थ नीरस हों वहाँ भी यदि अलंकार न हो तो चमत्कार की अनुभूति कहाँ से होगी ? इस स्थिति में स्फुटालंकार की भी आवश्यकता है। इसीलिए काव्यलक्षण में "अनलङ्कृती पुनः क्वाऽपि" न देकर अलंकार की सामान्यतः वैकल्पिक स्थिति न रखकर "स्फुटालंकाररसान्यतरत्वम्" यह विशेषण देना चाहिए। अर्थात् शब्दार्थ के साथ केवल अलंकार वैकल्पिक स्थिति न देकर रस व अलंकार के विकल्प को रखना चाहिए था।

उक्त लक्षण की कविराज विश्वनाथ कृत आलोचना—

विश्वनाथ कविराज ने अपने "साहित्यदर्पण" नामक ग्रन्थ में मम्मट उक्त काव्य लक्षण की प्रतिपद आलोचना की है। दर्पणकार ने मम्मट के इस काव्य लक्षण को चिन्तनीय बतलाया है। सर्वप्रथम उन्होंने "अदोसौ" इस विशेषण पर कटाक्ष किया है कि काव्यप्रकाशकार का यह काव्य लक्षण अव्याप्त है।

अर्थात् लक्ष्य के एक देश में सङ्गत नहीं होता है क्योंकि "न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः" इत्यादि ध्वनिकाव्य के उदाहरण हैं, परन्तु यहीं पर "अयमेव न्यक्कार" इस प्रकार पदों के परस्पर उद्देश्य विधेय भाव का विपर्यय होने से विधेया विमर्श दोष है। फलतः उक्त दोष से दुष्ट होने के कारण आपका लक्षण यहाँ व्याप्त नहीं है, अतः आपका लक्षण अव्याप्ति दोषग्रस्त है ! इस प्रकार 'निर्दुष्ट काव्य का मिलना अत्यन्त ही असम्भव है। इसलिए काव्य के शब्दार्थ के लिए यह दोषाभाव की शर्त नहीं रखनी चाहिए।

इसी प्रकार सगुणी का भी खण्डन किया। विश्वनाथ का कहना है कि जब गुण रस के धर्म हैं न कि शब्दार्थ के तब काव्य तो सरस होगा ही, धर्मी रस की सत्ता में उसके धर्म गुणों की स्वतः सत्ता है, इसके लिए पुनः 'सगुणौ' यह विशेषण देना सर्वथा अनुचित है, जब रस की सत्ता शब्दार्थ नहीं रहे उस स्थिति में शब्दार्थ के सगुण विशेषण आवश्यक है इस तरह यदि समाधान किया जाए तो रस के अभाव में तो शब्दार्थ में काव्यत्व ही नहीं फिर गुणों की चर्चा करना ही व्यर्थ है। अतः रसाभावदशा में भी 'सगुणौ' यह विशेषण उचित नहीं है।

अनलंकृती पुनः क्वाऽपि—के उदाहरण में भूल—

मम्मट ने अनलंकृती पुनः क्वाऽपि का अर्थ किया है सर्वत्र सालङ्कार शब्दार्थ काव्य है यदि कहीं स्पष्ट अलंकार न भी रहे तो उस दशा में भी काव्य माना जाता है। जैसे—"यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपाः" इत्यादि पद्य में किसी स्वाधीन पतिका का यह कथन है।

यहाँ प्रकृत सामग्री के सद्भाव में भी उत्कण्ठा की निवृत्ति नहीं हो रही है। इसमें विश्वनाथ का कथन है कि यहाँ विभावना तथा विशेषोक्ति दोनों अलंकार प्रतीत होते हैं एक ही वाक्य में दोनों की स्थिति होने से उनके गुण-प्रधान भाव में सन्देह होने के कारण सन्देह संकर स्पष्ट ही है। अतः मम्मट का यह कथन कि यहाँ स्पष्ट अलंकार नहीं है यह सरासर भूल है।

इस प्रकार काव्यप्रकाशकार के ऊपर विश्वनाथ के आक्षेप आपाततः यथार्थ प्रतीत होते हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि विश्वनाथ कोर्ट के कोई वकील हैं, और मम्मट के ऊपर एक से एक पोइन्ट पकड़ कर बहस कर रहे हों, और प्रतिपद दोषारोपण कर रहे हों।

पर मम्मट की काव्य परिभाषा पर थोड़ा भी गम्भीर चिन्तन करने से विश्वनाथ की ये दलीलें कपूर की तरह उड़ जाती हैं।

अदोषी का अर्थ है दोषरहित शब्दार्थ काव्य के उपयुक्त हैं। यह दोष दो तरह के होते हैं दोष सामान्य व दोष विशेष। दोष सामान्य के रहने पर भी यदि

काव्य की आत्मा रस की प्रतीति में कोई बाधा नहीं आती है, तो वे दोष सामान्य हैं दोष नहीं माने जाते हैं।

कुछ दोष विशेष होते हैं। वे रस दोष कहलाते हैं। या शब्दार्थ निष्ठ ऐसे दोष हैं जो परम्परया अर्थात् शब्दार्थ को दूषित करते हुए रस प्रतीति के भी विघातक हैं। ऐसे दोषों का परिहार काव्य में आवश्यक है। ऐसे ही दोषों का परित्याग ग्रन्थकार को अभीष्ट है। अतः अदोषी यह विशेषण सार्थक ही है। इसी तरह काव्य के लिए गुणों की सम्पत्ति भी आवश्यक है। गुण यद्यपि रस के धर्म हैं परन्तु स्वाश्रया व्यञ्जकत्व रूप परम्परा सम्बन्ध से वे शब्दार्थ में भी रहते हैं। यहां स्व शब्द से गुणों का ग्रहण होगा। उन गुणों का आश्रय रस है और उस रस के अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ है। स्वयं मम्मट ने भी अष्टम उल्लास में कहा है—**गुणवृत्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता:"** अर्थात् गौण-रूप से वे गुण शब्द और अर्थ में भी रहते हैं।

आनन्दवर्धन का **"काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्"** तथा कुन्तक का **"सालंकारस्य काव्यता"** आदिवाक्य अलंकार को उपलक्षक मानकर गुणों की ओर भी संकेत करते हैं। वामन ने तो साफ ही कहा है "विशेषो गुणात्मा' अर्थात्—काव्य में वह वैशिष्ट्य गुणों द्वारा ही है। रस जहाँ काव्य का अन्तरङ्ग तत्त्व है, वहाँ अलंकार व गुण शब्दार्थ को संस्कृत करने वाले बहिरङ्ग तत्त्व हैं। किसी वस्तु के पूर्ण परिचय के लिए उसके अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग तत्त्वों का वर्णन सर्वथा आवश्यक है। आदिकवि वाल्मीकि ने भी इस सिद्धान्त को पुष्ट किया है। लव-कुश के द्वारा रामायण का गायन सुनकर वाल्मीकि का कथन है—

अहो गीतस्य माधुर्यं श्लोकानां च विशेषतः।
चिरनिर्वृत्तमप्येतत् प्रत्यक्षमिव दर्शितम्॥ (वा० ४।१७)

अहो! इस गायन में विशेष कर श्लोकों में कितना माधुर्य है। वर्णन इतना रोचक है कि प्राचीनकाल में होने वाली भी घटना प्रत्यक्ष के समान दीख पड़ती है। इस पद्य में माधुर्य गुण व भाविक अलंकार का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

अनलङ्कृती पुनः क्वाऽपि—काव्यप्रकाशकार मम्मट द्वारा प्रदर्शित उक्त अस्फुटालंकार के उदाहरण **"यः कौमारहर:"** इत्यादि पद्य में विभावना, व विशेषोक्ति मूलक सन्देह संकर की कल्पना कर जो आपत्ति विश्वनाथ ने दिखलाई है उसका निराकरण इस प्रकार है।

यहाँ उत्कण्ठारूप कार्य का वर्णन किया गया है, (पर प्रकृत सामग्री की सत्ता में) उसका कारण नहीं है इसलिए विभावना है, ठीक इसके विपरीत

जहाँ सब वस्तुएँ उपभुक्तचर हैं, अर्थात् कारण सामग्री विद्यमान है पर उत्कण्ठाभाव रूप कार्य नहीं है, इसलिए विशेषोक्ति है। और किसी एक अलङ्कार की स्वीकृति में साधक बाधक कोई सामग्री न होने से सन्देह संकर है; विश्वनाथ ने विशेषोक्तिमूलक संन्देह संकर माना है। परन्तु ये अलंकार यहाँ भावमुखेन नहीं, अपि तु अभावमुखेन निकलते हैं, इसीलिए वे स्पष्ट नहीं हैं प्रत्युत बहुत खींचा तानी से निकलते हैं। अतः अस्फुटालङ्कार का यह उदाहरण ठीक ही है।

कुन्तक की काव्य परिभाषा और वक्रोक्ति—

आचार्य कुन्तक के अनुसार सालंकार शब्द और अर्थ काव्य है इनके मत में अलंकार काव्य का मूल तत्त्व है, बाह्य भूषण मात्र नहीं। काव्यत्व की स्थिति अलंकार और अलंकार्य शब्द-अर्थ के अवयव रहित समस्त समुदाय में ही रहती है।

काव्य मर्मज्ञों को आनन्द देने वाली सुन्दर कवि व्यापार युक्त रचना (बन्ध) में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर (सहितरूप में) काव्य कहलाते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि इसमें शब्द का सम्पूर्ण सौन्दर्य और अर्थ के सम्पूर्ण चमत्कार दोनों का सम्यक् सामञ्जय या विशिष्ट सहभाव जहाँ रहता है वह काव्य है। पहले सरलतया काव्य की पहिचान के लिए **"सालंकारस्य काव्यता"** कहकर पुनः काव्य व्यवहार के प्रयोजक-लक्षण को प्रदर्शित करते हैं—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ॥
बन्धे व्यवस्थितौ काव्य तद्विदाह्लादकारिणि ॥७॥

काव्य मर्मज्ञों के आह्लादकारक सुन्दर (वक्र) कवि-व्यापार से युक्त रचना में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य कहलाते हैं।

कुन्तक की वक्रोक्ति की परिभाषा—

प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा अर्थात् वर्णन शैली ही वक्रोक्ति है। अर्थात् वैदग्ध्यपूर्ण शैली द्वारा उक्ति ही (वक्रोक्ति) है। वैदग्ध्य का अर्थ है विदग्धता—कवि कर्म कौशल उसकी भङ्गिमा या छटा (शोभा) उसके द्वारा उक्ति (विचित्र अभिधा) या (वर्णन शैली) का नाम ही वक्रोक्ति है। संक्षेप में इस पद्य में इसका स्वरूप दिखाते हैं।

उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलङ्कृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणिति कथ्यते ॥१०॥

यह दोनों (शब्द और अर्थ) अलङ्कार्य होते हैं और चतुरता पूर्ण-कथन प्रकार विशेष रूप वक्रोक्ति ही उन दोनों (शब्द और अर्थ) का अलङ्कार होती है। अर्थात् विचित्राऽभिधान व्यापार रूप अलंकार ही वक्रोक्ति है। इसी से शब्दार्थ अलंकृत होते हैं। यही काव्य की आत्मा है या जीवन है।

काव्य के विषय में विश्वनाथ का मत—

विश्वनाथ कविराज काव्य के उपस्कारक बाह्य उपकरणों की उपादेयता के विषय में किञ्चित् उदासीन से प्रतीत होते हैं। इसीलिए इनका महान् संरम्भ मम्मट के काव्य लक्षण के विशेषणों के खण्डन के लिए रहा। यहाँ तक कि वक्रोक्तिजीवितकार के "काव्यजीवित के रूप में प्रतिष्ठित "वक्रोक्ति" को भी सहजरूप में अलङ्कार स्वरूप मानकर फिर उसके युक्ति के लिए कोई प्रयास भी नहीं करते।

ये काव्य के कला पक्ष से प्रभावित न होकर भाव पक्ष से प्रभावित हैं—इसीलिए बाह्य झञ्झटों में पड़कर काव्य के अन्तस्तल का स्पर्श करते हुए-— **"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"** रसात्मक वाक्य को ही काव्य का लक्षण मानते हैं। काव्य की आत्मा रस ही है और इस आत्मभूत रस के अभिव्यञ्जक वाक्य को काव्य कहते हैं। यहाँ रस शब्द व्यापक अर्थ में है। अर्थात्-रस से-भाव रसाभास-भावाभास आदि रस के समीवर्त्ती सभी भावनायें गृहीत हो जाती हैं। पर पण्डितराज को विश्वनाथ का यह काव्य लक्षण अत्यन्त संकीर्ण प्रतीत होता है। एक तो यह महाकवियों के विरुद्ध है, क्योंकि लक्ष्यानुसार लक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए। दूसरी बात यह है कि काव्यात्मा जो ध्वनि है, उसके वस्तु ध्वनि अलंकार ध्वनि आदि जो महत्त्वपूर्ण अङ्ग हैं उनमें यह लक्षण अव्याप्त है। अतः काव्य के क्षेत्र में यह लक्षण अत्यन्त संकुचित मालूम पड़ता है।

काव्य के विषय में पण्डितराज जगन्नाथ का विचार—

पण्डितराज जगन्नाथ—काव्य में रमणीयार्थ के पक्षपाती हैं—उनका प्रख्यात काव्य लक्षण है—**"रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्"**। रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य होता है। काव्य में शब्दों द्वारा प्रतिपादित अर्थ ऐसा हो जिसमें चित्त-रमण करे, आनन्द का अनुभव करे। इस रमणीयता का ही पर्याय वाचक शब्द चमत्कार भी है। यहाँ चमत्कार का अर्थ व्यापक है—

अर्थात्—जो रमणीय रचना हृदय को प्रभावित कर उसमें अलौकिक चमत्कार या आनन्द का संचार करती है वह "काव्य" कहलाती है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी काव्य प्रकाशकार के काव्य लक्षण की कड़ी आलोचना की है—

इनका कहना है कि—काव्यप्रकाशकार ने जो "**शब्दार्थौ काव्यम्**" अर्थात् शब्द और अर्थ को काव्य माना है उस पर जरा विचार करना है—

क्या काव्यत्व धर्म उभयनिष्ठ है—शब्द तथा अर्थ में "**व्यासज्यवृत्ति**" है। अर्थात् शब्द अर्थ दोनों में रहने वाला धर्म है अथवा प्रत्येकपर्याप्त ?

अर्थात्—"**शब्द में अलग काव्यत्व और अर्थ अलग काव्यत्व**"। इसमें पहला पक्ष अर्थात् "**व्यासज्य-वृत्ति**" वाला पक्ष नहीं बन सकता है। क्योंकि उस दशा में "**एको न द्वौ**" इस व्यवहार के समान यह श्लोक वाक्य तो है, परन्तु काव्य नहीं है। इस प्रकार का व्यवहार होने लगेगा। जैसे दो पदार्थों में रहने वाली द्वित्व संख्या दोनों में मिलकर ही रहती है। अलग-अलग नहीं इसी लिए द्वित्वसंख्या उन दोनों पदार्थों का व्यासज्य-वृत्ति धर्म है। जब दोनों पदार्थ उपस्थित होते हैं, तभी "द्वौ" ये दो हैं, इस प्रकार का व्यवहार होता है। और जब उनमें से एक ही उपस्थित होता है, उस समय "यह दो नहीं, एक है, इस प्रकार का व्यवहार होता है। इसी प्रकार यह श्लोक वाक्य है, काव्य नहीं" यह व्यवहार होने लगेगा। अतः **काव्यत्व को व्यासज्य-वृत्ति** नहीं माना जा सकता है। इसी प्रकार "काव्यत्व" को प्रत्येकपर्याप्त अर्थात् शब्द तथा अर्थ में दोनों में अलग-अलग रहने वाला धर्म भी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि उस दशा में एक ही श्लोक वाक्य में शब्द और अर्थ दोनों की दृष्टि से दुहरा काव्यत्व आ जायेगा, इसलिए एक पद्य में दो काव्यों का व्यवहार होने लगेगा। अतः न तो व्यासज्यवृत्ति काव्यत्व बनता है और न प्रत्येकपर्याप्त। फलतः काव्यत्व शब्दार्थ उभयनिष्ठ धर्म नहीं है अपितु केवल शब्दनिष्ठ धर्म है।

नागेश द्वारा मम्मट का समर्थन—

रसगङ्गाधर के टीकाकार नागेशभट्ट ने अपनी रसगङ्गाधर की टीका "मर्मप्रकाश" में पण्डितराज की युक्तियों का खण्डन कर मम्मट के ही मत का समर्थन किया है। उनका उत्तर इस प्रकार है—

काव्यत्व का प्रयोजक जो रसास्वाद व्यञ्जकत्व है वह शब्द तथा अर्थ दोनों में समान रूप से रहता है। काव्य पढ़ा—यहाँ पाठ शब्द है। काव्य को समझा यहाँ बोध अर्थ का है। ये उभयविध व्यवहार लोक में देखे जाते हैं। अतः काव्यत्व को व्यासज्य-वृत्ति धर्म-अर्थात् शब्द तथा अर्थ दोनों में मानने में कोई क्षति नहीं है। इसलिए चमत्कार बोध जनक ज्ञान विषयतावच्छेदक धर्मत्व रूप लक्षण शब्द और अर्थ दोनों में रहने से प्रकाशोक्त काव्य अनुपहसनीय है।

काव्य के भेद—

मम्मट ने काव्य के मुख्य तीन भेद माने हैं।

(१) ध्वनि-काव्य (२) गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य तथा (३) चित्र काव्य।

(१) ध्वनि काव्य को ही उत्तम काव्य कहते हैं—

जहाँ वाच्य से व्यङ्ग्य-अर्थ में अधिक चमत्कार रहे उसे उत्तम काव्य या ध्वनि काव्य कहते हैं।

मम्मट के शब्दों में ध्वनिकाव्य (उत्तम काव्य) का लक्षण इस प्रकार है—

इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः ॥४॥

अर्थात्—वाच्यार्थ की अपेक्षा जहाँ व्यङ्ग्यार्थ में अधिक चमत्कार रहे, वह उत्तम काव्य होता है, विद्वानों ने इसे ध्वनि या ध्वनि काव्य कहा है।

यहाँ ध्वनि शब्द के परिचय हेतु कुछ बातें आवश्यक हैं।

साहित्य शास्त्र में ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना आनन्दवर्धनाचार्य ने की है। सर्वप्रथम वैय्याकरणों ने स्फोट के अभिव्यञ्जक शब्द के लिए ध्वनि शब्द का प्रयोग किया था, उन्हीं की कल्पना को ग्रहण कर ध्वनि पण्डित-आनन्दवर्धनाचार्य ने शब्द-अर्थ-शब्दार्थ-व्यापार व व्यंग्य तथा व्यङ्ग्यप्रधान काव्य में भी ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है। वैय्याकरणों ने केवल स्फोट-रूप व्यङ्ग्य के अभिव्यञ्जक शब्द के लिए ध्वनि का प्रयोग किया था।

संक्षेप वैय्याकरणों की प्रक्रिया इस प्रकार है—

स्फोट भाट वैय्याकरणों का मुख्य सिद्धान्त है। स्फोट शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है, स्फुटति अर्थो यस्मात् स स्फोटः जिससे अर्थ की प्रतीति हो। इन्होंने वाक्यार्थ-बोध के लिए एक नित्य-स्फोट की कल्पना की है।

इस स्फोट की अभिव्यक्ति श्रोत्रग्राह्य ध्वनि रूप शब्द से होती है। इस लिए जैसे वैय्याकरणों ने अपने यहाँ प्रधानभूत स्फोट के अभिव्यञ्जक शब्द के लिए ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है, इसी प्रकार प्रधानभूत व्यङ्ग्य अर्थ को अभिव्यक्त करने वाले शब्द तथा अर्थ के लिए आनन्दवर्धनाचार्य आदि ध्वनि पण्डितों ने ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है।

ध्वनि काव्य या उत्तम काव्य का उदाहरण—

निःशेषच्युतचन्दनस्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो।
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ॥
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे।
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥२॥

किसी विदग्धोत्तम नायिका की अपनी दूति के प्रति यह उक्ति है—जिसे उसने अपने नायक को बुलाने के लिए भेजा था, परन्तु यह दूती स्नान कार्य के बहाने से अपने व नायक के सम्पर्क को छिपा रही थी, इसी के उत्तर में दूती के स्नाय कार्य द्वारा, उसके रहस्योद्घाटन को सुन्दर शब्दों में कर रही है कि स्नान के ही कारण तुम्हारे स्तन के अग्रभाग का चन्दन बिलकुल छूट गया है, अधर की लालिमा भी लुप्त सी है. आँखों में अब अञ्जन भी नहीं है, अरी परवेदना को न जानने वाली दूती ! तू यहाँ से सीधे स्नान के लिए बावली को चल दी, उस अधम (नायक) के पास नहीं गयी।

यहाँ वक्ता व बोधव्य की विशेषता से (अर्थात् रहस्य को जब दोनों जानती हैं) तब अधम पद की सहायता से—लक्षणा शक्ति द्वारा वापी गमन का निषेध होने से, दूति का नायक के पास जाना ही प्रधान व्यङ्ग्य है। यहाँ वाच्यार्थ—"वापीस्नान" की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ "तदन्तिकगमनरूप" अधिक चमत्कार युक्त है, अतः यह ध्वनि काव्य या उत्तम काव्य का उदाहरण है।

(२) गुणीभूत-व्यङ्ग्य-काव्य—(मध्यम काव्य)

जहाँ व्यङ्ग्यार्थ, वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कार युक्त न हो, उसे गुणीभूत व्यङ्ग्य कहते हैं—

अतादृशि गुणीभूत-व्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् ॥

अर्थात्—वाच्य से अधिक चमत्कार व्यङ्ग्य में न होने से गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक मध्यम काव्य कहलाता है—

उदाहरण—

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरी सनाथकरम् ।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ॥३॥

किसी कारणवश संकेतित स्थान में न पहुँच सकने के पश्चात्ताप का सुन्दर वर्णन है।

ग्राम तरुण के हाथ में नवीन वेवस मञ्जरी को हाथ में लिए हुए देखकर ग्राम-तरुणी का मुख कुम्हला जाता है, अर्थात् उसके मुख की कान्ति मलिन हो जाती है—

यहाँ यद्यपि संकेत करके भी निश्चित स्थान में नहीं जा सकी, यह व्यङ्ग्य अंश है, पर मञ्जरी को देखते मुख्य मलिन हो गया इस वाच्यार्थ का चमत्कार व्यङ्ग्य की अपेक्षा कहीं अधिक होने से यह गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य या मध्यम काव्य है।

चित्र-काव्य—(अधम काव्य)

जिसमें व्यङ्ग्यार्थ का अभाव हो या व्यग्यार्थ अस्पष्ट हो केवल शब्दालंकार या अर्थालंकार की ही प्रधानता हो उसे अधम काव्य या चित्र काव्य कहते हैं।

चित्र शब्द का अर्थ अलंकार है—

शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् ॥५॥

व्यङ्ग्य अर्थ से रहित शब्दचित्र या अर्थचित्र (दो प्रकार का होता है) को अधम काव्य कहते हैं।

उदाहरण—

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा
मूर्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाह्नाय वः ॥
भिद्यादुद्यदुदारदर्दुरदरीदीर्घादरिद्रद्रुम
द्रोहो द्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ॥४॥

प्रस्तुत पद्य में कोई भक्त भागीरथी से प्रार्थना कर रहा है कि—

भगवती भागीरथी-गङ्गा-आपकी मन्दता अर्थात् अज्ञान को शीघ्र दूर करे। स्वच्छन्द रूप से उछलती हुई, निर्मल किनारे के कच्छ-गह्वरों में अत्यन्त वेग से प्रवाहित होने वाली जो जल की धारा है, जिसमें, आनन्द पूर्वक स्नान व नित्यकृत्य करने वाले महर्षियों का मोह नष्ट हो चुका है। जिसमें बड़े-बड़े मेंढक दिखाई पड़ रहे हैं ऐसे कन्दरा हैं जिस मन्दाकिनी में, और प्रबलवेग के कारण, जिसने अपने तटस्थ शाखापत्रों से सम्पन्न बड़े भारी द्रुमों को गिरा दिया है, ऐसी उत्कट वेग वाली मन्दाकिनी आपके अज्ञान या पाप को तुरन्त नष्ट करे।

यद्यपि इस पद्य में भक्त में रहने वाला मन्दाकिनी विषयक-पूज्य-भाव प्रतीत होता है, तथापि वह अनुप्रास की छटा के सामने तिरोहित हो जाता है, प्रधानतया कवि प्रयत्न अनुप्रयास की तरफ ही है।

अतः यह शब्दचित्र का उदाहरण है।

अर्थचित्र का उदाहरण—

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद् भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयाऽपि यम् ।
ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियाऽमरावती ॥५॥

शत्रुओं के मान को खण्डन करने वाले, और मित्रों को सम्मान देने वाले जिस हयग्रीव को बिना किसी उद्देश्य से केवल भ्रमण के लिए अपने महल से

निकला हुआ सुनकर, स्वर्ग में इन्द्र ने स्वयं नगर के प्रधान द्वार को अर्गल सहित बन्द कर दिया, उस समय ऐसा मालुम पड़ता था मानो इन्द्र की राजधानी अमरावती मारे भय के आँख मूँद रही हो।

उक्त पद्य में यद्यपि हयग्रीव के प्रभावातिशय का वर्णन होने से वीर रस की अभिव्यक्ति हो सकती है, **"निमीलिताक्षीव भियामरावती"** इस उत्प्रेक्षाजन्य चमत्कार से वह वीर रस ओझल सा हो जाता है। मालूम पड़ता है कि कवि का सरम्भ उत्प्रेक्षा की ओर ही अधिक था। अतः यह अर्थचित्र का उदाहरण है।

"केचिच्चित्राख्यं तृतीयं काव्यमिच्छन्ति" कह कर विश्वनाथ ने काव्य प्रकाशकार की तरफ संकेत किया, और स्वयं तृतीय काव्य—चित्रकाव्य में अरुचि प्रकट की, और अपने पक्ष की पुष्टि में उन्होंने आनन्दवर्धनाचार्य के **"प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते उभे काव्ये"** इत्यादि कारिका को उद्धृत किया है।

पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार काव्य के चार भेद होते हैं, जो इस प्रकार हैं—उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम, और अधम।

॥ प्रथम उल्लास समाप्त ॥

द्वितीय उल्लास

शब्दार्थ विभाग

प्रथम उल्लास में काव्य-स्वरूप विवेचन के अवसर पर "शब्दार्थौ काव्यम्' कहा था, अब द्वितीय उल्लास में शब्दार्थ का विभाग करते हैं—

प्रथम उपस्थिति का विषय होने से और अर्थ का उपजीव्य होने से शब्द का पहिले निरूपण करते हैं—

"स्याद् वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा" (सू० ५)

यहां (काव्य में) वाचक, लाक्षणिक, और व्यञ्जक तीन प्रकार का होता है। अन्य शास्त्रों में व्यञ्जक शब्द नहीं माना जाता है, परन्तु काव्य में तो व्यञ्जक के बिना चमत्कार ही नहीं आता, अतः काव्य में तीन प्रकार के शब्द होते हैं, वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक।

यहां यह विभाग केवल उपाधिकृत है, शब्दों का नहीं क्योंकि एक ही गङ्गा शब्द वाचक भी है, लाक्षणिक भी और व्यञ्जक भी।

अर्थ का विभाग

जिस प्रकार उपाधि भेद से शब्द तीन प्रकार का होता है, उसी प्रकार अर्थ भी तीन-तीन प्रकार के होते हैं।

"वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः" (६ सू०)

वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य उन वाचक, लक्षक तथा व्यञ्जक शब्दों के अर्थ (भी तीन प्रकार के) होते हैं।

इन वाचक, लक्षक तथा व्यञ्जक शब्दों के वाच्य, लक्ष्य व व्यङ्ग्य ये अर्थ हैं, जिस प्रकार ये वाच्यादि पदार्थव्यञ्जनावृति के आश्रय होते हैं, उसी प्रकार वाक्यार्थ भी व्यञ्जनावृत्ति का आश्रय है, पर वाक्यार्थ (परार्थान्वयरूप) के बोध के लिए किसी वृत्ति विशेष का निरूपण करना चाहिए, इसी न्यूनता के परिहार के लिए मम्मट प्राचीन नैय्यायिकों के द्वारा स्वीकृत अथवा कुमारिल भट्ट आदि मीमांसकों के द्वारा प्रतिपादित, तात्पर्यावृत्ति प्रतिपाद्य तात्पर्यार्थ का भी निर्देश कर रहे हैं—

''तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्''

किन्हीं कुमारिलभट्ट आदि के मत में वाच्यादि अर्थों के अतिरिक्त तात्पर्यार्थ भी होता है—

अर्थात्—कुमारिलभट्ट आदि अभिहितान्वयवादी मीमांसक पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध बोध के लिए तात्पर्या नाम की एक अलग वृत्ति मानते हैं। इस तात्पर्यावृत्ति का प्रतिपाद्य वाक्यार्थ है, और वाक्य इसका बोधक अभिहितान्वय-वादी कुमारिलभट्ट आदि मीमांसकों का कहना है कि—अभिधा तो केवल पदार्थ के बोध में समर्थ है वाक्यार्थरूप जो पदार्थों का परस्पर अन्वय-सम्बन्ध विशेष है उस संसर्ग का बोध तो तात्पर्या नाम की वृत्ति से ही हो सकता है। इसलिए तात्पर्या नाम की वृत्ति को भी मानना चाहिए।

इसके विपरीत कुमारिलभट्ट के शिष्य प्रभाकर गुरु और उनके मतानुयायी वाक्यार्थ बोध के लिए तात्पर्या नाम की वृत्ति को नहीं मानते। वे अन्वित पदों में ही शक्ति मानते हैं। इनके अनुसार पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध रूप वाक्यार्थ वाच्य ही होता है—

"वाच्य एव वाक्यार्थः" इति **"अन्विताभिधानवादिनः।"**

अर्थात्—अन्वित का ही अभिधान होता है, वाक्यार्थ अभिधा का ही विषय है, इसके लिए पृथक् तात्पर्या नाम की वृत्ति मानना आवश्यक नहीं है। मीमांसा दर्शन प्रभाकर का मत गुरुमत से प्रसिद्ध है।

अभिहितान्वयवाद—

अभिहितान्वयवादियों का कहना है कि सर्वप्रथम पदों से पदार्थों की प्रतीति होती है, अर्थात् पहिले पदों के द्वारा पदार्थ अभिहित-अभिधा शक्ति द्वारा बोधित हो जाते हैं। बाद में आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधि वश इसके सहयोग से अभिहित पदार्थों का अन्वय-संसर्ग होता है। जिससे वाक्यार्थ की प्रतीति होती है, इसी अन्वयांश के बोध के लिए जिसे कुछ लोग संसर्ग मर्यादा से भासित मानते हैं तात्पर्या वृत्ति को मानते हैं। इस प्रकार अभिहित पदार्थों के अन्वय मानने के कारण इन्हें अभिहितान्वयवादी कहते हैं—**पदानि अभिहितानि भूत्वा पश्चाद्विशिष्टमर्थं बोधयन्तीति ये वदन्ति ते अभिहितान्वय-वादिनः।** अभिप्राय यह है कि—**"घटं करोति"** इस वाक्य का अर्थ है—**"घट वृत्तिकर्मत्वानुकूला कृतिः"** इसमें घट पद का कम्बुग्रीवादिमान व्यक्ति विशेष घट का अर्थ है, अम् प्रत्यय का अर्थ कर्मता, करोति का अर्थ कृति है। परन्तु वाक्यार्थ में संसर्गमर्यादा से या अन्वयबोध से भासित होने वाले वृत्तित्व व अनुकूलत्व तो किसी पद के अर्थ नहीं हैं। इन्हीं की वाक्यार्थ में उपस्थिति के लिए तात्पर्या वृत्ति की आवश्यकता होती है।

वृत्ति-ग्रन्थ में **"अभिहितान्वयवादिनां मतम्"** इस बहुवचन से ग्रन्थकार की इसी मत में (आदर) सम्मति है, यह बात ध्वनित होती है।

अन्विताभिधानवाद—

अन्विताभिधान वाद के प्रतिपादक आचार्य प्रभाकर हैं। इनके मत में पदार्थ पहिले अभिहित हों फिर उनका परस्पर अन्वय होता हो, यह बात नहीं अपितु पहले से अन्वित पदार्थों का ही अभिधा से बोध हो जाता है। अन्वय पूर्व सिद्ध होने के कारण इसके लिए पुनः तात्पर्यावृत्ति की आवश्यकता नहीं है।

प्रभाकर का कहना है सर्वप्रथम बालक को संकेतग्रह या पदार्थों ज्ञान वाक्य से ही होता है। क्योंकि बालक को तत्तत् पदार्थों ज्ञान या संकेतग्रह व्यवहार से होता है। और यह व्यवहार वाक्य द्वारा ही होता है क्योंकि प्रयोजक वृद्ध को जो कुछ भी उपदेश देता है वह वाक्य द्वारा ही देता है, और बालक चुपचाप इनकी चेष्टाओं या व्यवहार का अनुशीलन करता है। जैसे किसी वृद्ध ने किसी को आज्ञा दी कि "गाय ले आओ" या कलम ले आओ" बालक को इनमें से किसी भी पद का ज्ञान नहीं है, न वह कलम जानता है न ले आओ ही इसी प्रकार संस्कृत में "गामानय"-यह वाक्य है। बालक को गो पद के भी अर्थ का ज्ञान नहीं है, और आनय इस पद का भी अर्थ ज्ञान नहीं है। परन्तु जब बालक व्यवहार को देखता है कि अमुक शब्द के उच्चारण करने से मध्यम वृद्ध-अमुक अमुक वस्तु को ला रहा है, तो अन्वित पद या वाक्य से ही सर्वप्रथम बालक को ज्ञान होता है पश्चात् पद-पदार्थ बोध होता है। इसीलिए यह संकेतग्रह केवल पदार्थ होकर (किसी के साथ) अन्वित पदार्थ में ही होता है। इसीलिए इस मत का नाम अन्वित का अभिधान—अर्थात् अन्वित पद ही अभिधा का विषय है। फिर से अन्वय भान के लिए तात्पर्यावृत्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं है, संक्षेप में प्रभाकर के मत का यही सार है।

अर्थों की व्यञ्जकता

शब्द शक्तियों का विवेचन प्रायः सभी शास्त्रों में हुआ है। शास्त्रकारों ने अपने-अपने विचार से इसका विवेचन किया है। शक्ति के स्वरूप के विषय में भी विभिन्न शास्त्रकारों के परस्पर भिन्न मत हैं।

क्योंकि शक्ति का सम्बन्ध शब्द से है इसीलिए पद-प्रमाण व वाक्य की जिन शास्त्रों में विशेष चर्चा की गई है, उन्हीं में शब्द-शक्ति के विषय में भी विशेष ऊहापोह किया गया है इनमें व्याकरण को पद शास्त्र कहते हैं क्योंकि पदसाधुत्व का अधिक दायित्व व्याकरण पर आता है और न्याय को प्रमाण शास्त्र कहते हैं, यह शास्त्र प्रत्यक्ष या अनुमानादि के द्वारा पदार्थोंपरीक्षण

करता है, और वाक्य के विषय विचार करने वाले शास्त्र को मीमांसा शास्त्र कहते हैं, मीमांसा विशेषत: वेद वाक्यों पर विचार करती है प्रसङ्गत: लौकिक वाक्यों से सम्बन्धित पद-पदार्थों पर भी विचार करती हैं। अत: प्राधान्येन शब्द शक्ति का विषय इन्हीं शास्त्रों का विषय है, पर प्रसङ्गानुसार अन्य शास्त्रों में भी आनुषङ्गिक रूप से इस विषय की चर्चा होती है। अत: इन्हीं के अनुसार अन्यत्र भी पद-पदार्थ कल्पना की जाती है।

वैय्याकरण—पद-पदार्थ के सम्बन्ध विशेष को ही शक्ति मानते हैं। पद में वाचकता शक्ति है और अर्थ में वाच्यता रूप शक्ति है, एक में बोधजनकता है तो दूसरे में बोध विषयता। यह वाच्य वाचक भाव शब्दार्थोभय निष्ठ होगा जो शब्द—है वही अर्थ और जो अर्थ है वही शब्द इस प्रकार इतरेतराध्यास मूलक तादात्म्य इसी को संकेत कहते हैं। प्राचीन वैय्याकरण-केवल बोधजनकता को ही शक्ति मानते हैं। जैसे इन्द्रियों की अनादि काल से अपने अपने विषय रूपादि ग्रहण की योग्यता है, इसी प्रकार शब्दों की भी अर्थ के साथ जो बोध जनकता है वही शक्ति है।

नैय्यायिकों के मत में—ईश्वर संकेत ही शक्ति है अर्थात् यह पद इस अर्थ का बोधक हो इस प्रकार की जो ईश्वरेच्छा है वही संकेत या शक्ति है। या इसी वृत्ति के द्वारा अर्थ बोधक पद वाचक और उससे बोध्य गोत्वादिविशिष्ट अर्थ वाच्य है, इसी को मुख्यार्थ भी कहते हैं।

मीमांसक—शब्द की बोधकता शक्ति को अतिरिक्त पदार्थ मानते हैं जिस प्रकार वह्नि में दाहकता शक्ति है, उसी प्रकार शब्द में भी एक अर्थ बोधकता शक्ति है, यही संकेत है, इसीलिए ये लोग शक्ति को पदार्थान्तर मानते हैं।

आलङ्कारिको के मत में—शब्दार्थ का परस्पर प्रतिपाद्यप्रतिपादक भाव लक्षण सम्बन्ध विशेष ही शक्ति है। जैसा कि पण्डितराज जगन्नाथ ने लिखा है—"**शक्याख्योऽर्थस्य शब्दगत: शब्दस्यार्थगतो वा सम्बन्धविशेषोऽभिधा**" वे तीन हैं—अभिधा, लक्षणा व व्यञ्जना। आशाधर भट्ट ने अपने त्रिवेणिका नामक ग्रन्थ में इन शक्तियों का सरल शब्दों में सुन्दर विचार किया है। शक्ति को ही वृत्ति भी कहते हैं। शक्ति-वृत्ति ये पर्याय वाचक शब्द हैं। उन्होंने उक्त ग्रन्थ के वृत्ति प्रकरण में वृत्ति का विवेचन इस प्रकार किया है—

वर्तते-शब्दोऽर्थे प्रवर्तते, अनयेति वृत्ति:।

जिस माध्यम से शब्द की अर्थ की ओर प्रवृत्ति होती है, वही वृत्ति है। यहाँ वृतु वर्तने इस धातु से करण में क्तिन् प्रत्यय लगाकर वृत्ति शब्द की सिद्धि होती है। इसी प्रकार अन्यत्र—जैसे अन्त:करण वाचक बुद्धि शब्द में भी क्तिन्

प्रत्यय ही है, और भगवद् प्रेम-सूचक भक्ति शब्द में भी क्तिन् प्रत्यय करण में ही है, जैसा कि भागवत-सुबोधिनी में लिखा है—**अत्र धात्वर्थः सेवा । प्रत्ययार्थः प्रमेत्युक्तम्** । इसीलिए मल्लिनाथ ने भी रघुवंश की टीका **"भक्तिः प्रतीक्ष्येषु. कुलोचिता ते"** में भक्ति की व्याख्या करते हुए **"पूज्येष्वनुरागो भक्तिः"** ऐसा कहा है । साहित्यदर्पणादि ग्रन्थों में वृत्ति के स्थान में शक्ति शब्द का प्रयोग किया है और लक्षणा के स्थान पर कहीं-कहीं भक्ति शब्द का प्रयोग है तथा व्यञ्जना के स्थान पर व्यक्ति का शब्द का प्रयोग मिलता हैं।

अतः साहित्यशास्त्र में ये शक्ति-भक्ति-व्यक्ति क्रमशः गङ्गा, यमुना, सरस्वती की तरह हैं—

"शक्यते-साक्षादभिधीयतेऽनययेति-शक्तिः" "करणे क्तिन्"

साक्षात् जिससे अर्थ का प्रतिपादन किया जाए वह शक्ति है—

भज्यते—शक्यार्थः खण्ड्यतेऽनयेति भक्तिर्लक्षणा, भञ्जो आमार्दने इस धातु से करण में क्तिन् प्रत्यय । अथवा—

भज्यते-सेव्यतेऽर्थान्तरमनयेति भक्तिः" भज सेवायाम् इस धातु से क्तिन् प्रत्यय ।

अर्थात्—मुख्यार्थ का खण्डन-बोध हो जिसमें उसे भक्ति-लक्षणा-कहते हैं । या अर्थान्तर का जहाँ बोध हो उसे भक्ति-लक्षणा कहते हैं ।

व्यज्यते-प्रकटीक्रियतेऽर्थोऽनयेति व्यक्तिर्व्यञ्जना ।

व्यङ्ग्यार्थ जिस व्यापार के द्वारा अभिव्यक्त किया जाए उसे व्यक्ति या व्यञ्जना कहते हैं ।

साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ ने इन शक्तियों का निर्देश इस प्रकार किया है—

वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षण्या मतः ।
व्यङ्ग्यो व्यञ्जनया ताः स्युस्तिस्रः शब्दस्य शक्तयः ॥३॥

वाचक-शब्द का स्वरूप—

इस प्रकार वाचक, लक्षण व व्यञ्जक के अभिधा, लक्षणा व व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा क्रमशः वाच्य, लक्ष्य व व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत होते हैं ।

यह नियम है कि वृत्ति के बिना किसी भी शब्द से अर्थ का प्रकाशन नहीं हो सकता है अतः तत्तत् शब्दों से तत्तत् वृत्ति के द्वारा तत्तत् अर्थों का प्रकाशन होता है । आचार्य मम्मट सर्वप्रथम वाचक शब्द निरूपण करते हुए कहते हैं—

साक्षात् संकेतितं योऽर्थमभिधत्त स वाचकः ॥ (सू० ६)

जो शब्द साक्षात् संकेतित अर्थ कहता है, वह वाचक शब्द कहलाता है ।

लोक व्यवहार में संकेत सहायक शब्द ही अर्थ विशेष का प्रतिपादन करता है, इसलिए जिस शब्द का जिस अर्थ में साक्षात्-विना किसी व्यवधान के संकेत-ग्रहण होता है वह शब्द उस अर्थ का वाचक होता है। यह संकेत-ग्रह अनेक प्रकार से होता है—व्याकरण से भी संकेत-ग्रह होता है जैसे धातु पाठ में पढ़ा है कि भू धातु सत्ता अर्थ में है, और सूत्र से जैसे "साधकतमं करणम्" आदि साधकतम का करण अर्थ में संकेत-ग्रह हुआ इसी प्रकार पाचक व पाठक आदि का भी निर्णय व्याकरण के द्वारा ही होता है, इसी प्रकार उपमान—जैसी गाय है वैसा ही गवय भी होता है। इसी तरह कोश, आप्तवाक्य व व्याख्या आदि संकेत ग्रह के उपाय हैं।

इन सबमें मुख्यरूप से व्यवहार है, क्योंकि अधिकांश शब्दों का या सबसे पहिले बालक को संकेत ग्रह का व्यवहार से ही ज्ञान होता है जैसा कि अन्विताभिधानवादी आचार्य प्रभाकर आदि का मत है।

संकेतग्रह का विषय—

यह एक समस्या है कि सांसारिक पदार्थों की तो कोई सीमा नहीं है, फिर कहाँ-कहाँ इनमें संकेत किया जाए क्योंकि जिस पदार्थ या व्यक्ति में संकेत किया जायेगा, उसी पदार्थ का ज्ञान होगा, तदतिरिक्त पदार्थ का तो ज्ञान होगा नहीं, जैसे—यदि कहा जाए कि "घट पदात् कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थ-विशेषो बोधव्य:" घट पद से कम्बुग्रीवादिमान पदार्थ का बोध हो, तो अस्मात् पदादयमर्थो बोधव्य के नियम से घट का ही बोध होगा न कि पट का।

यदि प्रत्येक व्यक्ति में संकेत ग्रह किया जाए तो यह असम्भव है। क्योंकि दुनियाँ के अनन्त व्यक्तियों में संकेतग्रह सम्भव नहीं है।

इसीलिए किसी व्यक्ति विशेष में संकेतग्रह नहीं हो सकता, अनन्त व्यक्तियों यों एकत्र या एक समय में उपस्थिति तो हो नहीं सकती है। इसलिए व्यक्ति पक्ष में यह आनन्त्य दोष आ जाता है। और दूसरा दोष आता है व्यभिचार नियम का उल्लंघन रूप। मान लिया जाए एकत्र दो चार व्यक्तियों में संकेत ग्रह हो भी गया तो शेष व्यक्तियों का बिना संकेत ग्रह से ही व्यवहार होता रहेगा, इस तरह से यह नियमभङ्गरूपी दूसरा दोष भी आ जाता है, अतः व्यक्ति पक्ष में तो कथमपि संकेतग्रह बनता नहीं है। इसलिए हमें अब दुनिया के पदार्थों का उपयुक्त विभाजन करना पड़ेगा, जिससे तत्तत वर्ग के सभी पदार्थ आ जायें और सरलतया सबमें संकेतग्रह भी हो जाए, इसमें एकतो व्यक्ति में संकेत ग्रह न करके व्यक्ति की उपाधि या जाति में संकेतग्रह किया जाए—जैसे गो व्यक्ति में न करके गोत्व जाति या उपाधि में संकेत ग्रह किया जाय। और यह संकेतित जात्यादि अर्थ भी चार प्रकार का होता है—जाति गुण, क्रिया, और द्रव्य-यदृच्छाशब्द। आचार्य मम्मट के शब्दों में यह इस प्रकार है—

संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादि र्जाति रेव वा ।

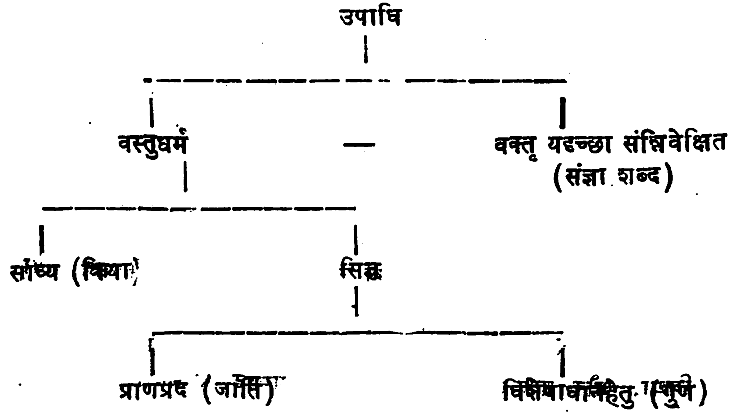
संकेतिन अर्थ (पदार्थ) जाति आदि अर्थात्—जाति, गुण, क्रिया, और द्रव्य (यदृच्छा) भेदों से चार प्रकार का होता है। यह मम्मट का जात्यादि पक्ष है मीमांसकों का पक्ष है, केवल जाति में ही संकेत ग्रह मानना।

अर्थात्—केवल जाति को ही शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त—व्यवहार का प्रयोजक मानना न कि गुण क्रिया, द्रव्य को भी।

कहने का तात्पर्य यह है कि—जैसे—गोत्व जाति में आप संकेतग्रह करते हैं, इसी प्रकार गुण क्रिया व द्रव्य में भी जाति का अनुसन्धान किया जा सकता है। जैसे अनेक गो व्यक्ति में रहने वाला अनुगत प्रत्यय हेतु सामान्य (एकाकार प्रतीति में कारण जाति) गोत्व एक ही है, इसी प्रकार गुणादि में भी अनेक शुक्ल व्यक्तियों रहने वाला शुक्लत्व सामान्य और अनेक पाकादियों में रहने वाला पाकत्व सामान्य, अनेक द्वित्वादियों में रहने वाला द्वित्वत्व सामान्य एक ही है, अतः केवल जाति में ही संकेत मानना चाहिए। यह मीमांसकों का जाति पक्ष है।

पर ग्रन्थकार को यह पक्ष अभीष्ट नहीं है। उन्होंने जाति-गुण-क्रिया व द्रव्य (यदृच्छाशब्द) में ही संकेतग्रह माना है। इस विषय में उन्होंने व्याकरण महाभाष्यकार पतञ्जलि का भी वचन प्रमाण रूप से उद्धृत किया "चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः" इति महाभाष्यकारः। इस प्रकार जाति-गुण क्रिया और-द्रव्य (संज्ञा शब्द) इन चारों को प्रवृत्ति निमित्त माना है। यह उपाधि या जाति भी दो तरह की है—वस्तु धर्म और वक्तृ यदृच्छा सन्निवेक्षित (संज्ञा शब्द) वस्तु धर्म भी दो प्रकार का है—सिद्ध और साध्य यह सिद्ध भी दो प्रकार का है—पदार्थ का प्राणप्रद, और विशेषाधन हेतु।

उपाधि का विषय विभाग इस प्रकार है—



संकेतग्रह के विषय में नैय्यायिकों का मत—

नैय्यायिकों के मत में संकेतग्रह केवल जाति में भी नहीं माना जाता और केवल व्यक्ति में भी नहीं माना जा सकता है। यद्यपि अर्थक्रियाकारित्व केवल व्यक्ति में ही है न कि जाति में तथापि व्यक्ति पक्ष में संकेतग्रह मानने से वही पूर्वोक्त दो दोष—आनन्त्य व व्यभिचार दोष आ जाते हैं और केवल जाति में संकेतग्रह करके यदि व्यक्ति का आक्षेपात् ज्ञान कर लें तो भी **"शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव पूर्यते"** इस नियम के अनुसार अर्थात्—शब्द शक्ति से लक्ष्य अर्थ का ही शाब्द बोध में अन्वय होता है। आक्षेपलभ्य अर्थ का शाब्द बोध में अन्वय नहीं होता है। इसलिये—**"व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः"** इस नियम के अनुसार "तद्वान्" अर्थात् जातिविशिष्ट व्यक्ति में ही संकेतग्रह मानना चाहिए।

संकेतग्रह के विषय में बौद्ध मत—

बौद्धों के मत में शब्द का अर्थ होता है अपोह। अपोह का अर्थ होता है, अतद्व्यावृत्ति, या तद्भिन्न-भिन्नत्व, है। दश घट व्यक्तियों में घटः घटः इस प्रकार की एकाकार प्रतीति (अनुवृत्तिपत्यय) का कारण नैय्यायिक जैसे "घटत्व" सामान्य को मानते हैं इसी प्रकार बौद्ध भी दश घट व्यक्तियों में जो घटः घटः इस प्रकार की अनुगत प्रतीति होती है, उसका कारण अपोह या अघट व्यावृत्ति या **"घटभिन्नभिन्नत्व"** को मानते हैं।

अर्थात्—घट से भिन्न सारा जगत् और उसका भेद घट में है। इस प्रकार बौद्धों के मत में अपोह ही शब्द का अर्थ है या संकेतग्रह का विषयीभूत पदार्थ अपोह ही है।

अभिधाशक्ति या व्यापार—

संकेतग्रह का विषयीभूत अर्थ ही शब्द का मुख्यार्थ है।

इस मुख्यार्थ में शब्द का जो व्यापार होता है उसे अभिधा कहते हैं।

स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ॥८॥

अर्थात्—वह साक्षात् संकेतित अर्थ ही मुख्यार्थ है, उस मुख्यार्थ के बोधन कराने में शब्द का जो व्यापार है उसे "अभिधा" व्यापार या "अभिधा शक्ति" कहते हैं।

लक्षणाशक्ति या व्यापार—

जहाँ किसी प्रसिद्धि या किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिए मुख्यार्थ अपने से सम्बद्ध किसी अन्यार्थ की प्रतीति कराता है उस अर्थ को लक्ष्यार्थ कहते हैं, और उस लक्ष्यार्थ की बोधिका शक्ति का नाम लक्षणा शक्ति है।

इसमें तीन शर्तें हैं (१) मुख्यार्थ का बोध होना, (२) मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ कोई न कोई सम्बन्ध होना, (३) रूढि (प्रसिद्धि) अथवा प्रयोजन का होना।

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥९॥

मुख्यार्थ का बाध (अन्वयानुपपत्ति या तात्पर्यानुपपत्ति) होने पर उस मुख्यार्थ से लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध होने पर रूढि अथवा प्रयोजन विशेष से, जिस शक्ति के द्वारा अन्य अर्थ लक्षित होता है, वह मुख्यरूप से अर्थ में रहने वाला परम्परया शब्द में आरोपित व्यापार लक्षणा है।

लक्षणा के सम्बन्ध में विभिन्न मत—

नैय्यायिकों का मत है कि—शक्य का सम्बन्ध ही लक्षणा है। इनमें प्राचीन नैय्यायिक अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानते हैं, और नव्य नैय्यायिक-तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानते हैं। विश्वनाथपञ्चानन ने न्याय सिद्धान्तमुक्तावली में लिखा है—

"लक्षणा शक्यसम्बन्धस्तात्पर्यानुपपत्तितः॥"

मीमांसकों का सिद्धान्त है कि शक्यार्थ सम्बन्ध के ज्ञान होने से जो अशक्य अर्थ की उपस्थिति है वही लक्षणा है, जैसे गङ्गा पद से शक्यार्थ प्रवाह का ज्ञान हुआ उससे पुनः (एक सम्बन्धी ज्ञान अपर सम्बन्धी का स्मारक होता है) इस न्याय के अनुसार तीर की स्मृति हो जाती है; यही लक्षणा का स्वरूप है।

वैय्याकरणों के मत में—शक्यतावच्छेदक का आरोप लक्षणा है। वे संकेतित अर्थ के धर्म का असंकेतित अर्थ में आरोप कर लेते हैं।

इसी का नाम अन्य के धर्म का अन्य में अभ्यास है। **गङ्गायां घोषः** इत्यादि स्थलों में शक्यतावच्छेदक धर्म प्रवाहत्व या गङ्गात्व का तीर रूप अर्थ में अभ्यास कर लेते हैं और यह तीर रूप अर्थ की उपस्थिति अभिधा द्वारा ही हो जाती है अतः अभिधा का ही एक भेद लक्षणा है जैसा कि भर्तृहरि ने लिखा है—**"अर्थमात्रं विपर्यस्तं शब्द स्वार्थे व्यवस्थितः"** अर्थात् अर्थ मात्र ही बदल जाता है, शब्द अपने रूप में व्यवस्थित ही है।

कुछ आलंकारिकों की लक्षणा के विषय में असहमति जैसे वैय्याकरण लक्षणा के पृथक् वृत्ति के विषय में उदासीन हैं। अभिधा के ही प्रसिद्ध व अप्रसिद्ध भेद मानकर, अप्रसिद्ध भेद को लक्षणा मान लेते हैं, इसी प्रकार कुछ आलंकारिक भी लक्षणा को स्वतन्त्र वृत्ति न मानकर अलंकारों में ही इसका अन्तर्भाव कर देते हैं—

जैसे—वामनाचार्य ने सादृश्य हेतुक लक्षणा को वक्रोक्ति अलंकार में अन्तर्हित कर दिया—**"सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः"** (४-३-८) अलंकार रत्नाकर में शोभाकर मित्र ने तो यहाँ तक कहा है कि—सादृश्य प्रयुक्त या सम्बन्धान्तर प्रयुक्त जितना भी उपचार का विषय है वह सब रूपक में आ जाता है।

"सादृश्य प्रयुक्तः सम्बन्धान्तरप्रयुक्तो वा यावान् भिन्नयोः सामानाधिकरण्य-निर्देशः स सर्वोऽपि रूपकम्।"

काव्यप्रकाश के अनुसार लक्षण के भेद—

लक्षणा के भेदक हेतु हैं—रूढि और प्रयोजन। अर्थात् लक्षणा के रूढिगत भेद और प्रयोजनगत भेद होंगे।

रूढि का उदाहरण है **"कर्मणि कुशलः"** (चित्रकर्म या किसी कार्य में कुशल) यहाँ कुशल शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ (व्याकरण के द्वारा निकलने वाला अर्थ) है **"कुशान् लाति आदत्ते"** इति कुशलः। (कुशों को लाने वाला) प्रकृत में "कुशों को लाने वाला" इत्यादि अर्थ का कोई सम्बन्ध न होने से मुख्यार्थ का बोध होता है। तदनन्तर विवेचकत्वादि सम्बन्ध से कुशल पद दक्ष अर्थ में रूढ़ (प्रसिद्ध) होने से मुख्य से अन्य अर्थ दक्ष या चतुर अर्थ लक्षित होता है। अतः कर्मणि कुशलः यह रूढि का उदाहरण है।

प्रयोजन का उदाहरण—"गङ्गायां घोषः" है।

यहाँ गङ्गा पद का मुख्यार्थ भगीरथरथखातावच्छिन्न जलप्रवाह है। घोष का अर्थ है कुटिया (कौटेज) जलप्रवाह कुटिया का आधार नहीं बन सकता है। अतः यहाँ मुख्यार्थ का बाध होता है। गङ्गा के साथ तट का सामीप्य सम्बन्ध होने पर, **"गङ्गातटे घोषः"** इत्यादि पदों के प्रयोग से अलभ्य शैत्य पावनत्वादि धर्मों की प्रतीति स्वरूप प्रयोजन से मुख्य गङ्गा का प्रवाह रूप अर्थ से अमुख्य तीरादि जो लक्षित होते हैं वह शब्द का व्यवहितार्थ विषयक आरोपित शब्द व्यापार लक्षणा है।

लक्षणा का रहस्य—

तात्पर्य यह है कि काव्य नाटकादि साहित्यिक ग्रन्थों में जिन शब्दों का प्रयोग होता है, उनसे प्रकाशित होने वाला अर्थ ज्ञान तीन प्रकार का होता है—(१) सुन्दर, (२) सुन्दरतर, (३) सुन्दरतम।

सामान्यजनों की बोलचाल के शब्दों से होने वाला अर्थज्ञान सामान्यतः सुन्दर है। जैसे—देवदत्त गांव को जाता है। यह मुख्यार्थ-विषयक अभिधा-व्यापारजन्य है, इसमें खास चमत्कार नहीं है। लक्षणाजन्य चमत्कार चारुतर या सुन्दरतर है—किसी ने अपने मित्र से पूछा आपका निवास स्थान कहाँ है?

उसने उत्तर दिया गङ्गा के पास है। तो मित्र ने समझ लिया कि गङ्गा के आसपास कहीं होगा, इसलिए इसके घर जाने से क्या फायदा, न तो वहाँ शीतलता है और न पवित्रता। फिर दूसरे मित्र से पूछा कि आपका निवास स्थान कहाँ है तो उसने उत्तर दिया—गङ्गा में ही मेरी कुटिया है। अब इसे विश्वास हो गया कि गङ्गा से ज्यादा दूर नहीं है, अवश्य यहाँ शीतत्त्वपावनत्वातिशय की प्राप्ति हो सकती है। अतः मित्र उसके घर चलने को राजी हो गया।

यह शब्द प्रयोग की विशेषता है कि एक जगह अभीष्ट प्रयोजन की प्रतीति हो जाती है, और एक जगह नहीं हो रही है, प्रथम मित्र का कथन अभिधा का विषय है, जिसमें शैत्यपावनत्वातिशय की प्रतीति नहीं होती है।

दूसरे मित्र का कथन—लक्षणा का विषय है, जिसमें श्रोता को सुनते ही अपने अभीष्ट प्रयोजन पर विश्वास हो जाता है। वाचक व लाक्षणिक शब्दों के प्रयोग में यही अन्तर है। अन्यथा शब्द प्रयोग तो स्वायत्त है, क्यों अवाचक शब्दों का प्रयोग किया जाय ?

"**गङ्गायां घोषः**" गङ्गा में कुटिया है इत्यादि स्थलों में यद्यपि लक्षणाशक्ति का विषय तट ही है, क्योंकि लक्षणा की पहुँच ही तट तक है, उससे अधिक जो शैत्यपावनत्वातिशय का ज्ञान तो व्यञ्जना व्यापार का विषय ही है, पर यह व्यञ्जना यहाँ लक्षणामूला है। इसीलिए इस प्रयोजन को लक्षणा का फल भी कहते हैं। यह प्रयोजन या फल हमेशा व्यङ्ग्य ही होता है। अतएव यह लक्षणा का उदाहरण सुन्दरतर है। निरुढा लक्षणा या रूढि लक्षणा में कोई प्रयोजन न होने से अभिधा व्यापार की तरह वह पद सामान्यरूप होने से सुन्दर है।

लक्षणा के अवान्तर भेद—

यह लक्षणा उपादान लक्षणा व लक्षणलक्षणा के भेद से पुनः दो प्रकार की होती है।

उपादान लक्षणा—जहाँ वाक्य में स्थित पद अपने सम्बन्ध की सिद्धि के लिए अपने अर्थ का "उपादान" ग्रहण करते हुए, अन्य अर्थ का भी आक्षेप किया जाय वहाँ उपादान लक्षणा होती है। "**कुन्ताः प्रविशन्ति**" इसका उदाहरण है।

यहाँ कुन्त (भाले) अपने प्रवेशन क्रिया की सिद्धि के लिए अपने से संयुक्त कुन्तधारी पुरुषों का आक्षेप होता है, और स्वयं कुन्तों का भी उपादान ग्रहण होता है। इसीलिए यह उपादान लक्षणा का उदाहरण है।

कुन्तों की अतिगहनता ही यहाँ प्रयोजन है।

लक्षणलक्षणा—वाक्य में दूसरे की अन्वय की सिद्धि के लिए जहाँ अपने मुख्यार्थ का परित्याग करना पड़ता है, उसे "लक्षणलक्षणा" कहते हैं। इसका उदाहरण—**"गङ्गायां घोषः"** है।

यहाँ गङ्गा शब्द पर घोष की आधारत्व सिद्धि के लिए अपने प्रवाहरूप मुख्यार्थ का परित्याग कर सामीप्य सम्बन्ध से अन्य तटार्थ का बोध कराता है अतएव यह लक्षणलक्षणा का उदाहरण है, शैत्यपावनत्वातिशय की प्रतीति प्रयोजन है।

ये दोनों उदाहरण—**"स्वसिद्धये पराक्षेपा"** रूप उपादान लक्षणा का **कुन्ताः प्रविशन्ति** यह और परार्थं स्वसमर्पण रूप लक्षणालक्षणा का **गङ्गायां घोषः** यह। ये दोनों शुद्धा के ही भेद हैं, क्योंकि यहाँ उपचार का मिश्रण नहीं है।

जहाँ सादृश्यमूलक कोई सम्बन्ध होता है, वहीं उपचार होता है। उक्त स्थलों में तो समीप्यादि सम्बन्ध है अतः ये शुद्धा के भेद हैं। विभिन्न पदार्थों का किसी सादृश्यातिशय के द्वारा जहाँ परस्पर भेद प्रतीति का स्थगन हो जाय उसे उपचार कहते हैं। जैसे—**"अग्निर्माणवकः"** इत्यादि स्थल में। **"उपचारो हि नामात्यन्तं विशकलितयोः शब्दयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमात्रम्। (साहित्यदर्पण)**

मुकुलभट्ट के उपादान लक्षणा के उदाहरणों का खण्डन—

मुकुलभट्ट ने अपने ग्रन्थ **"अभिधावृत्ति मातृका"** में उपादान लक्षणा के दो उदाहरण दिखलाये हैं। एक—**"गौरनुबन्ध्यः"** दूसरा—**"पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते।"**

प्रथम उदाहरण—"गौरनुबन्ध्यः" यहाँ पर मुकुलभट्ट का कहना है कि श्रुतिचोदित अनुबन्धन यहाँ गोत्व जाति का तो हो नहीं सकता है; अतः उपादान लक्षणा के द्वारा मुख्यार्थ जाति से अन्यार्थ व्यक्ति का आक्षेप किया जाता है, इस पर मम्मट का कहना है कि यहाँ उपादान लक्षणा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ऐसे स्थलों में तो आक्षेप या अनुमान से ही व्यक्ति का लाभ हो जाता है, प्रयोजन व रूढि के न होने के कारण यहाँ लक्षणा की कोई गुञ्जाइश ही नहीं है।

इसी प्रकार दूसरा उदाहरण—"पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते" यह भी उपादान लक्षणा का उदाहरण नहीं हो सकता, यह श्रुतार्थापत्ति या अर्थापत्ति का विषय है।

शुद्धा तथा गौणी विषयक मुकुलभट्ट का सिद्धान्त—

मुकुलभट्ट के अनुसार गौणी लक्षणा में तो सादृश्यातिशय के कारण लक्ष्य तथा लक्षक की अभेद प्रतीति होती है—जैसे—**"गौर्बाहीकः"** में गौ तथा

वाहीक अर्थों में अभेद प्रतीति होती है, तभी उन दोनों पदों का सामानाधिकरण्य होने से समान विभक्ति में प्रयोग होता है। परन्तु शुद्धा लक्षणा में तो अर्थात् उपादान लक्षणा व लक्षण लक्षणा में "गङ्गायां घोषः" इत्यादि स्थलों में लक्ष्य तट तथा लक्षक गङ्गादि शब्दों में तो अभेद नहीं अपितु भेद रूप ताटस्थ की ही प्रतीति होती है। अतः शुद्धा तथा गौणी का भेदकधर्म यही है। एकत्र शुद्धा में लक्षक लक्ष्य में भेद प्रतीति तथा अन्यत्र गौणी में लक्षक व लक्ष्य में अभेद की प्रतीति। यही इन दोनों में अन्तर है।

मम्मट द्वारा ताटस्थ्य सिद्धान्त का निराकरण—

मम्मट को मुकुलभट्ट का शुद्ध व गौणी के विषय में यह ताटस्थ्य सिद्धान्त अभिमत नहीं है। उनका कहना है कि शुद्धा के भेदों में भी लक्षक व लक्ष्य में अभेद प्रतीति ही होती है, फर्क सिर्फ इतना ही है कि एकत्र गौणी में उपचार का मिश्रण रहता है, और अपरत्र शुद्धा में उपचार का मिश्रण नहीं रहता है। यदि शुद्धा के उदाहरण **"गङ्गायां घोषः"** इत्यादि स्थलों में लक्षक व लक्ष्य में अभेद प्रतीति नहीं मानेंगे तो तट में गङ्गात्व की प्रतीति नहीं हो सकेगी। तट के साथ केवल गङ्गा का सम्बन्ध मात्र मानने से तो **"गङ्गायास्तटे घोषः"** गङ्गा के किनारे घोष है, इस मुख्य शब्द के कथन से लक्षणा का भेद ही क्या रह जायेगा।

शुद्धा तथा गौणी के भेद—

जहाँ आरोप्यमाण (उपमान) तथा आरोप विषय (उपमेय) दोनों शब्दतः कथितः होते हैं वहाँ दूसरी (गौणी) सारोपा लक्षणा होती है—

"सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा ॥

और आरोप्यमाण (उपमान) के द्वारा यहाँ (आरोप विषय) उपमेय को निगीर्ण किया जाय, अर्थात् उपमान वाचक पद के द्वारा ही उपमेय का भी बोध कराया जाय उसे साध्यवसाना लक्षणा कहते हैं।

विषय्यन्तः कृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका ॥ ११ ॥

यदि यह आरोप वा अध्यवसान सादृश्यमूलक हो तो गौणी के लक्षणा होगी, यदि किसी सम्बन्धान्तर से होय तो शुद्धा लक्षणा होगी।

उपादान गौणी सरोपा का उदाहरण है **"गौर्वाहीकः"** यहाँ गौ तथा वाहीक दोनों के समान गुणों के आश्रयरूप से वाहीक अर्थ ही लक्षणा द्वारा उपस्थित होता है।

यहाँ गौ आरोप्यमाण उपमान है और आरोप विषय उपमेय है वाहीक दोनों में जाड्यमान्द्यादि गुणों की समानता के कारण वाहीक में गौ का आरोप किया है। दोनों का निर्देश शब्दतः होने से सारोपा गौणी का उदारहण है। लक्षणलक्षणा—गौणी साध्यवसाना का उदाहरण—गौरयम् है।

यहाँ आरोप्यमाण गौ के द्वारा आरोप विषय उपमेय वाहीक का निगीर्ण हो चुका है। साथ ही साथ पूर्वोक्त जाड्यादि गुणों के द्वारा सामानाधिकरण्य भी है, अतः यह उदाहरण गौणी साध्यवसाना लक्षणा का है।

शुद्धा सारोपा का उदाहरण—"आयुर्घृतम्" घी आयु है। यहाँ आरोप्यमान उपमान आयु व आरोप विषय उपमेय घी दोनों का शब्दतः निर्देश है, और यहाँ सादृश्य से अतिरिक्त कार्यकारण सम्बन्ध है अर्थात् घी कारण है और आयु कार्य है, घी खाने से अवश्य आयु बढ़ती है यही इसका प्रयोजन भी है।

शुद्धा साध्यवसाना का उदाहरण—"आयुरेवेदम्" यह (घी) आयु ही है। यहाँ आरोपविषय घी का आरोप्यमाण उपमान आयु के द्वारा निगीर्ण हो चुका है अतः यह उदाहरण शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा का है। निश्चित रूप से आयु बढ़ाना समप्रयोजन पूर्ववत् है—

लक्षणा तेन षड्विधा

इस प्रकार पूर्व भेद उपादान लक्षणा, व लक्षणलक्षणा, सारोपा व साध्यवसाना ये शुद्धा के चार भेद हैं, और गौणी के केवल दो भेद—सारोपा व साध्यवसाना, सब मिलकर छः भेद हुए—

इनका विषय विभाग इस प्रकार है—

- लक्षणा
  - शुद्धा
    - उपादानल०
    - लक्षणल०
    - सारोपा
    - साध्यवसाना
  - गौणी
    - सारोपा
    - साध्यवसाना

पुनः व्यङ्ग्य की दृष्टि से लक्षणा का विभाग—

यह लक्षणा पुनः अव्यङ्ग्या, गूढव्यङ्ग्या, अगूढव्यङ्ग्या तीन प्रकार की होती है। रूढि में—"कर्मणि कुशलः" इत्यादि स्थलों में व्यङ्ग्या से रहित होगी और प्रयोजनवती लक्षणा व्यङ्ग्य सहित होगी।

वह प्रयोजन भी कहीं गूढ होगा और कहीं अगूढ।

गूढ (व्यङ्ग्य), प्रयोजनवती लक्षणा का उदाहरण—

"मुखं विकसितं स्मितम्" इत्यादि हैं।

यह किसी इन्दुवदना की तरुणिमा का सुन्दर वर्णन है।

इस सुन्दरी का मुख स्मित इषद्हास्य से विकसित है।

यहाँ विकास पुष्प का धर्म है, इसको स्मित में बाध होने से लक्षणा के द्वारा स्मित की सातिशयता लक्षित होती है, इससे मुख में सौरभादि व्यङ्ग्य है, यह व्यङ्ग्य सर्वजनवेद्य न होने के कारण गूढ है।

अगूढ व्यङ्ग्य प्रयोजनवती लक्षणा का उदाहरण—

श्रीपरिचयाज्जडा अपि भवन्त्यभिज्ञा विदग्धचरितानाम्।
उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि ॥१०॥

लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाने पर मूर्ख भी चतुरों के व्यवहार को समझने वाले हो जाते हैं, (पुनः अर्थान्तर न्यास से इसका समर्थन करते हैं) जैसे यौवन मद ही कामिनियों को ललित उपदेश कर देता है।

यहाँ "उपदिशति" यह पद अगूढ व्यङ्ग्य है, क्योंकि शब्द द्वारा अज्ञातार्थ का ज्ञापन रूप उपदेश तो चेतन का धर्म है न कि जड यौवन मद का, अतः मुख्यार्थ का बाध होने से सामान्य विशेषरूप सम्बन्ध से उन चेष्टाओं का आविष्कार मात्र लक्ष्य है, अनायास ललित चेष्टाओं का ज्ञान यह व्यङ्ग्य वाच्यार्थ की तरह स्पष्ट मालूम पड़ता है।

इस प्रकार काव्यप्रकाशकार के मत से छः प्रयोजनवती लक्षणायें पूर्ववर्णित हैं। इसके प्रयोजन स्वरूप व्यङ्ग्य के गूढागूढ होने से ये बारह प्रकार की हो गई। रूढि का केवल एक भेद है, सब मिलाकर तेरह प्रकार की लक्षणा हुई।

साहित्यदर्पणकार ने मम्मट के छः भेदों के स्थान पर सोलह भेद माने हैं। उन्होंने रूढि तथा प्रयोजन को भी भेद का कारण माना है। इस प्रकार उपादान लक्षणा दोनों के रूढिगत व प्रयोजनगत होने से चार भेद हो जाते हैं। फिर इन चारों में सारोपा और साध्यवासना मान लेने से आठ भेद हो जाते हैं। इन आठों में शुद्धा तथा गौणी के भेद से सोलह प्रकार की लक्षणा हो जाती है पुनः इन भेदों के व्यङ्ग्य के गूढागूढ होने से और धर्म गत होने से पद व वाक्य गत लक्षणा के मानने से अस्सी प्रकार के भेदों के विश्वनाथ ने दिखलाया हैं।

लाक्षणिक शब्द—

इस प्रकार लक्षणा के अवान्तर भेदों का निरूपण करके अब पूर्व प्रसङ्ग से अनुकृष्ट लाक्षणिक शब्द का विवेचन करते हैं—

उस लक्षणा शक्ति का आश्रयभूत यह "गङ्गादि" शब्द लाक्षणिक कहलाता है। तात्पर्य यह है कि प्रवाहरूप अर्थ का वाचक-गङ्गादि शब्द लक्षणा शक्ति

की परिधि में आ जाने से उपचारवश लाक्षणिक कहलाता है। **"तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः।"**

उस लाक्षणिक शब्द के द्वारा जब शैत्यपावनत्वादि प्रयोजन का प्रतिपादन करना पड़ता है तो व्यञ्जनात्मक व्यापार की आवश्यकता होती है।

अर्थात्—प्रयोजन केवल व्यञ्जना व्यापार का ही विषय है।

प्रयोजन की प्रतीति में व्यञ्जना वृत्ति की अपरिहार्यता—क्योंकि—

जिस प्रयोजन की प्रतीति के लिए लाक्षणिक शब्द का आश्रय लिया जाता है, केवल उसी लाक्षणिक शब्द द्वारा गम्य उस फल (प्रयोजन) के विषय में व्यञ्जना के अतिरिक्त (शब्द) का अन्य कोई व्यापार नहीं हो सकता है।

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ॥१४॥

उक्त प्रयोजन की प्रतीति न तो अभिधा वृत्ति से हो सकती है, क्योंकि पावनत्वादि प्रयोजनों के प्रतिपादक गङ्गादि शब्दों में इस प्रकार का संकेत ग्रह नहीं किया गया है, और मुख्यार्थ बाधादि हेतुओं के न होने से लक्षणावृत्ति का भी विषय नहीं है।

लक्षणावृत्ति प्रयोजन की प्रतीति तब कराती जब यहाँ लक्ष्यार्थ ही मुख्यार्थ माना जाता, पर यहाँ तो तट रूप मुख्यार्थ नहीं है, न उसमें किसी प्रकार का बाध ही है, और न शैत्य पावनत्वादि फल के साथ उसका कोई सम्बन्ध ही है। फिर प्रयोजन को लक्ष्यार्थ मानने में आगे कोई अन्य प्रयोजन भी नहीं है।

यदि प्रयोजन सहित तट को लक्षणा का विषय माना जाए तो यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि विषय और फल में भेद होता, जैसे ज्ञान का विषय ज्ञान के फल से भिन्न होता है, उसी प्रकार लक्षणा ज्ञान का विषय तट है और लक्षणा ज्ञान का फल पावनत्वादि ये दोनों परस्पर भिन्न है।

अतः प्रयोजन विशिष्ट तट लक्षणा व्यापार का विषय नहीं हो सकता। क्यों कि **"ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्"**।

अर्थात्—ज्ञान का विषय (घटादि) अलग और ज्ञान का फल (नैय्यायिकों) के मत में अनुव्यवसाय और मीमांसकों के मत में ज्ञातता (प्रकटता) अलग कहे गये हैं।

न्याय का अनुव्यवसाय सिद्धान्त—

न्याय सिद्धान्त के अनुसार पहिले घटादि नीलादि पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा हो जाता है, **"अयं घटः"** इस प्रकार का ज्ञान। पश्चात्

"घटविषयक ज्ञानवानहम्" या "घटमहं जानामि" इस प्रकार का यह दूसरा ज्ञान अनुव्यवसायात्मक ज्ञान कहा जाता है। पहला ज्ञान विषय-घट से उत्पन्न होता है इसलिए यह व्यवसायात्मक ज्ञान है, दूसरा ज्ञान घटज्ञान से उत्पन्न होता है। इसीलिए यह अनुव्यवसायात्मक ज्ञान कहलाता है इसी को दूसरे शब्दों में संवित्ति भी कहते हैं। यह दूसरा ज्ञान घट ज्ञान का फल हुआ।

अर्थात्—घट ज्ञान के विषय घट से उस घट ज्ञान का फल "अनुव्यवसाय" भिन्न है इसीलिए विषय और फल दोनों की समकालीन उपस्थिति नहीं होती है।

मीमांसकों का ज्ञातता सिद्धान्त—

मीमांसकों के मत में अयं घट इस प्रकार के ज्ञान होने के बाद "ज्ञातो मया घटः" इस प्रकार की प्रतीति होती है। इस प्रतीति में घट में रहने वाला ज्ञानता या प्रकटता नामक धर्म भासता है। यह धर्म घटज्ञान के पहिले घट में नहीं था, घट ज्ञान के बाद आया, अतः वह ज्ञान से उत्पन्न होने से ज्ञान उसका कारण है। अन्यथा ज्ञातता की अनुपपत्ति है, इसी अन्यथानुपपत्ति के द्वारा ज्ञातता से ज्ञान का ग्रहण होता है।

नैय्यायिकों का अनुव्यवसाय जैसे आत्मा में रहने वाला धर्म है, वैसे ही मीमांसकों का यह ज्ञातता धर्म घटादि विषय में रहने वाला धर्म है यही इन सिद्धान्तों में भेद है—

दोनों ही मतों में ज्ञान का विषय ज्ञान के फल से भिन्न होता है, क्योंकि विषय ज्ञान का कारण है इसलिए उसकी स्थिति ज्ञान के पहिले रहती है। फल ज्ञान का कार्य है इसलिए यह ज्ञान के बाद होता है। इसलिए लक्षणा जन्य ज्ञान के विषय तटादि का उसके फल (प्रयोजन) पुण्यत्व मनोहरत्वादि या शैत्य पावनत्वादि की स्थिति भी अलग अलग है उन दोनों की समकालीन उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इसलिए विशिष्ट अर्थात् प्रयोजन सहित तट में लक्षणा नहीं हो सकती है। हाँ लक्षित तटादि में विशेष शैत्यपावनत्वादि हो सकते हैं।

यह लक्षणामूला व्यञ्जना का प्रकरण समाप्त हुआ।

अभिधामूला व्यञ्जना—

अनेकार्थक शब्दों का संयोगादि द्वारा एक अर्थ में नियन्त्रण हो जाने पर भी उसी शब्द से यदि पुनः अन्यार्थ की प्रतीति होती हो तो उस प्रतीति का कराने वाला शब्द व्यापार अभिधा मूला-व्यञ्जना के नाम से कहा जाता है।

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम् ॥१६॥

अनेकार्थक शब्दों के विषय में जहाँ यह सन्देह हो कि किस अर्थ को लिया जाए तो ऐसी स्थिति में ये संयोगादि चौदह तत्त्व नियामक होते हैं—

(१) जैसे संयोग—"शंख चक्र के सहित हरि" यदि कहा जायेगा तो यहाँ हरि शब्द अनेकार्थक—विष्णु इत्यादि वाचक होता हुआ भी संयोग के द्वारा विष्णु का ही वाचक होगा क्योंकि शंख चक्र का संयोग विष्णु में ही रहता है।

(२) इसी प्रकार वियोग भी नियामक होता है, यदि अशंखचक्रो हरि कहेंगे तो वियोग के द्वारा भी हरि शब्द विष्णु का ही वाचक होगा, क्योंकि संयोगपूर्वक ही वियोग होता है।

(३) साहचर्य—"रामलक्ष्मणौ" में साहचर्य सदभाव के कारण दोनों दशरथ पुत्र के वाचक होंगे।

(४) विरोधिता—"रामार्जुनगतिस्तयोः" इत्यादि स्थल विरोध नियामक है। राम और अर्जुन इन दोनों शब्दों का विरोधिता के कारण परशुराम तथा कार्तवीर्य अर्थ होगा।

(५) अर्थ अर्थात् प्रयोजन—संसार से मुक्ति के लिए "स्थाणु" का भजन करो यहाँ स्थाणु शब्द (प्रयोजन विशेष मुक्ति अर्थ के कारण शिव इस अर्थ में नियन्त्रित हो जायेगा।

(६) प्रकरण—"देवो जानाति", "देव" यह शब्द अनेकार्थक है पर प्रकरणवश "आप" इस अर्थ में नियमित हो जायेगा।

(७) लिङ्ग—"मकरध्वज कुपित हो रहा है" इत्यादि स्थलों में कोप चिह्न के द्वारा मकरध्वज शब्द कामदेव अर्थ में ही नियन्त्रित हो जायेगा।

(८) अन्य शब्द की सन्निधि—"पुरारि देव का" यहाँ पुरारि शब्द के सान्निध्य से देव शब्द शंकर अर्थ ही होगा।

(९) सामर्थ्य—"कोकिल मधु से मत्त हो रहा है" यहाँ कोकिल को मत्त करने का सामर्थ्य केवल वसन्त में होने से मधु शब्द का वसन्त अर्थ होगा।

(१०) औचिती—"पत्नी का मुख तुम्हारी रक्षा करे" इसमें अनेकार्थक मुख शब्द औचित्य के कारण साम्मुख्य—आनुकूल्य अर्थ में नियन्त्रित होगा।

(११) देश—"यहाँ परमेश्वर शोभित है" इसमें राजधानी रूप देश विशेष के कारण अनेकार्थक परमेश्वर शब्द का राजा अर्थ होगा।

(१२) काल—"चित्रभानु चमक रहा है" यहाँ अनेकार्थक चित्रभानु शब्द का दिन में सूर्य अर्थ और रात में कालविशेष के कारण अग्नि अर्थ होगा।

(१३) व्यक्ति—'मित्रं भाति' में नपुंसक लिङ्ग होने के कारण मित्र शब्द का सुहृत् सखा आदि और पुल्लिङ्ग में 'मित्रो भाति' होने से सूर्य अर्थ लिया जायेगा।

(१४) "इन्द्र शत्रु वर्धस्व" इत्यादि स्थलों में ही स्वर का उपयोग होता है।

अर्थात्—वेद में ही स्वर विशेष से अर्थ विशेष का बोध होता है, काव्य में स्वरों का विशेष उपयोग नहीं होता है।

इसी तरह चेष्टादि से भी किसी विशेष अर्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार संयोगादि से जब अनेकार्थक शब्दों का एक अर्थ में नियन्त्रण हो जाता है, पुनः यदि उसी शब्द से अर्थान्तर की प्रतीति होती है तो उसमें अभिधा व्यापार न होकर व्यञ्जना व्यापार ही होता है—इसी को अभिधामूला व्यञ्जना कहते हैं—

उदाहरण—

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य।
यस्यानुपप्लवगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत् ॥१२॥

इस श्लोक में किसी राजा की स्तुति की जा रही है, अतः इन अनेकार्थक शब्दों का भद्रात्मनो "सुन्दर आत्मा वाले" हाथी के पक्ष में भद्रजातीय हाथी इत्यादिकों का प्रकरण द्वारा जब राजा के अर्थ नियमित हो जाता है, पुनः उन्हीं शब्दों से हाथीपरक दूसरे अर्थ की प्रतीति और प्रकृत अर्थ के साथ उपमानोपमेयभाव की भी प्रतीति होती है, राजा के सारे विशेषण हाथी के पक्ष में भी लगते हैं। यह द्वितीय अर्थ की प्रतीति अभिधामूला व्यञ्जना द्वारा ही होती है।

इस व्यञ्जना व्यापार से युक्त शब्द व्यञ्जक कहलाता है। इसमें अर्थ की भी सहकारिता रहती है—

अर्थात्—शाब्दी व्यञ्जना में शब्द की प्रधानता व अर्थ की सहकारिता रहती है, और आर्थी व्यञ्जना में अर्थ की प्रधानता व शब्द की सहकारिता रहती है, इसीलिए ये शब्दार्थ काव्य में एक दूसरे के पूरक के रूप में है।

काव्य प्रकाश में शब्द अर्थ का निरूपण नामक
द्वितीय उल्लास समाप्त हुआ।

तृतीय उल्लास

आर्थी व्यञ्जना

द्वितीय उल्लास में शब्द अर्थ के स्वरूप का निर्णय करते हुए वाचक लक्षण व व्यञ्जक, शब्द और वाच्य, लक्ष्य व व्यङ्ग्य अर्थ का भी प्रतिपादन किया, साथ ही साथ लक्षणाशक्ति पर विचार कर लक्षणा के प्रयोजन के प्रतिपादन के अवसर पर प्रयोजन को व्यञ्जना व्यापारगम्य ही मानते हुए लक्षणामूलाशाब्दी व्यञ्जना व अभिधामूलाशाब्दी इन दोनों प्रकार की शाब्दी व्यञ्जना का निरूपण कर, अब इस उल्लास में आर्थी व्यञ्जना का निरूपण करते हैं—**"अर्थव्यञ्जकतोच्यते"** इत्यादि कारिका द्वारा।

जैसे—लक्षणामूला व्यञ्जना के लिए मूल में लक्ष्यार्थ का होना आवश्यक है, और अभिधामूला व्यञ्जना में "संयोगादि नियामक तत्त्वों द्वारा प्राकरणिकादि अर्थों का नियमन आवश्यक है, उसी प्रकार इस आर्थी व्यञ्जना में भी वक्तृ बोधव्यादि का ज्ञान आवश्यक है, जिनकी विशेषता से अर्थ, अर्थान्तर को अभिव्यक्त करता है—

उन वक्तृ बोधव्यादि का निर्देश इस प्रकार है----

वक्तृबोधव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः ॥२१॥
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम् ।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥२२॥

(१) वक्ता, (२) बोधव्य, (३) काकु, (४) वाक्य, (५) वाच्य, (६) अन्यसन्निधि, (७) प्रस्ताव, (८) देश, (९) काल, (१०) आदि के वैशिष्ट्य से (प्रतिभाशीलों) सहृदयों को अन्यार्थ की प्रतीति कराने वाला अर्थ का जो व्यापार होता है वह आर्थी व्यञ्जना ही है।

(१) वक्ता के वैशिष्ट्य का उदाहरण—

अति पृथुलं जलकुम्भं गृहीत्वा समागतास्मि सखि त्वरितम् ।
श्रमस्वेदसलिलनिःश्वासनिःसहा विश्राम्यामि क्षणम् ॥१३॥

कोई सखी अपनी सखी से कहती है, कि बहुत भारी जलकुम्भ लाई हूँ, इसलिए परिश्रम से थक गई हूँ अब क्षण मात्र विश्राम करूँगी ॥

यहाँ प्रतिभाशाली सामाजिकों को प्रमाणान्तर से जिसका असतीत्व ज्ञात था, उन्हें उस वक्त्री सखी के वैशिष्ट्य से वाच्यार्थ के द्वारा उक्त सखी का चौर्यरत गोपन अभिव्यक्त होता है।

बोधव्य के वैशिष्ट्य का उदाहरण—

औभिद्यं दौर्बल्यं चिन्तालसत्वं सनिःश्वसितम् ।
मम मन्दभागिन्याः कृते सखि त्वामपि अहह परिभवति ।।१४।।

कोई नायिका अपनी सखी को कहती है, ये चिन्ता, दुर्बलता आदि जो मुझे परेशान कर रहीं हैं, मेरे लिए परिश्रम करने वाली तुमको भी ये परेशान कर रहीं हैं।

यहाँ बोधव्य सखी हैं। उसी के वैशिष्ट्य से उसका काकुभविषयक अपराध प्रकाशन किया जा रहा है।

काकु के द्वारा व्यङ्ग्यार्थ का प्रकाशन—

गुरुःखेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ।।१५।।

यहाँ भीम युधिष्ठर के प्रति कहते हैं उस प्रकार की अवस्था का अनुभव करके भी, खिन्न मेरे उपर युधिष्ठिर नाराज होंगे, न कि कौरवों पर ?

इस काकु (एक प्रकार की ध्वनि विशेष) "मेरे उपर नाराज होना उचित नहीं कौरवों पर नाराज होना उचित है—यह व्यंग्य विशेष प्रकाशित होता है।

वाक्य के वैशिष्ट्य से व्यङ्ग्यार्थ का प्रकाशन—

तदा मम गण्डस्थलनिमग्नां दृष्टिं नानैसीरन्यत्र ।
इदानीं सैवाहं तौ स्व कपोलो न च सा दृष्टिः ।।१६।।

कपोल प्रतिविम्बित सखी को देखने वाले के प्रति किसी नायिका की यह उलाहना है कि तुम्हारी प्रच्छन्न कामुकता का क्या कहा जाय, यह व्यङ्ग्य इस सारे वाक्य की विशेषता से मालूम पड़ता है।

वाच्य (अर्थ) की विशेषता का उदाहरण—

"उद्देशोऽयं सरसकदलीश्रेणिशोभातिशायी" इत्यादि यह प्रदेश सरस कदली कुञ्ज से मण्डित है" इत्यादि-वाच्यार्थ की विशेषता से कुञ्जादि विशेषण से विशिष्ट प्रदेश रूप वाच्य से सुख पूर्वक भ्रमण योग्य यह देश है, यह व्यङ्ग्यार्थ अभिव्यक्त होता है।

अन्य सन्निधि की विशेषता का उदाहरण—

नुदत्यनाद्रमनाःश्वश्रूर्मां गृहभरे सकले ।
क्षणमात्रं यदि संध्यायां विश्रामो भवति न वा भवति ।।

सन्निहित उपनायक के प्रति "संध्या संकेत" काल की सूचना सामाजिकों को उक्त सन्निहित व्यक्ति की विशेषता से मालूम पड़ता है।

प्रकरण की विशेषता का उदाहरण—

श्रूयते समागमिष्यति तव प्रियोऽद्य प्रहरमात्रेण । इत्यादि

यहाँ प्रकरण के ज्ञाता सामाजिकों को किसी के अभिसरण निषेधादि व्यङ्ग्य प्रस्ताव विशेष से मालूम पड़ता है।

देश की विशेषता का उदाहरण—

अन्यत्र यूयं कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः ।
नाऽहं हि दूरं भ्रमितुं समर्था प्रसीदतायं रचितोऽञ्जलिर्वः ॥२०॥

यहाँ कुसुमावचय को उद्देश्य करके सखियों का अन्य देशाधिकरण का विधानरूप विविक्त देश विशेष से उपपति-समागम रूप व्यङ्ग्य प्रकाशित होता है।

काल के वैशिष्ट्य का उदाहरण—

गुरुजनपरवश प्रिय, किं भणामि तव मन्दभागिनी अहम् ।
अद्य प्रवासं व्रजसि व्रज स्वयमेव श्रोष्यसि करणीयम् ॥२१॥

यहाँ अद्य पद प्रयुक्त वसन्त काल की विशेषता से प्रिय के प्रति अनुरक्त किसी का जीवन मुश्किल है यह अभिव्यक्त होता है।

आदि से चेष्टाविशेष से भी व्यङ्ग्यार्थ अभिव्यक्त होता है। शब्द प्रमाण से वेद्य अर्थ अर्थान्तर को अभिव्यक्त करता है। इसीलिए आर्थी व्यञ्जना में शब्द की भी सहकारिता है।

शाब्दी व्यञ्जना के प्रसङ्ग में यह कहा था कि शब्द ही यहाँ मुख्यरूप से व्यञ्जक होता है, पर अर्थ भी उसका सहायक होता है। इसी प्रकार आर्थी-व्यञ्जना में यद्यपि अर्थ ही मुख्य रूप से व्यञ्जक होता है तथापि शब्द की भी सहकारिता रहती ही है।

काव्य प्रकाश में अर्थ व्यञ्जकता निर्णय नामक
तृतीय उल्लास समाप्त हुआ

चतुर्थ उल्लास

यद्यपि प्रथम, द्वितीय व तृतीय उल्लास में काव्य स्वरूप "शब्दार्थौ काव्यम्" इत्यादि और शब्दार्थ का निर्णय, इसी प्रसङ्ग में अभिधा, लक्षणा व व्यञ्जना व्यापार का भी निर्णय हो चुका है, अब काव्य के धर्म-दोष-गुण अलंकारों का स्वरूप कथन अवशिष्ट था, पर धर्मी काव्य के प्रतिपादन किये बिना उसके धर्मों की हेयोपादेयता का उचित मूल्याङ्कन नहीं हो सकता। इसलिए पहले उत्तम काव्य-ध्वनिकाव्य के मुख्य भेदों का निरूपण करते हैं—

ध्वनि के मुख्य भेद—

ध्वनि मूलतया दो प्रकार की होती है—

अभिधामूलाध्वनि तथा लक्षणामूला ध्वनि।

द्वितीय उल्लास में जिस लक्षणा का विवेचन किया है, उसी का प्रयोजन व्यङ्ग्य होता है, और वाच्य विवक्षित नहीं होता, अर्थात् मुख्यार्थ का बाध होता है। अतएव इस लक्षणामूला ध्वनि को अविवक्षितवाच्यध्वनि कहते हैं—

इसके भी पुनः अर्थ के कभी अर्थान्तर में संक्रमित हो जाने से, और मुख्यार्थ को बिल्कुल छोड़ देने से दो भेद होते हैं।

एक अर्थान्तर संक्रमितवाच्यध्वनि और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि।

लक्षणामूला ध्वनि

अविवक्षितवाच्यध्वनि

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि — अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि का उदाहरण—

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समुदायोऽत्र तिष्ठति।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत् ॥२३॥

अपने शिष्य के प्रति किसी विद्वान की यह उक्ति है—

मैं तुमसे कहता हूँ कि यहाँ विद्वानों का समुदाय रहता है, अतः जरा सोच समझकर (बोलना) या रहना।

यहाँ जब वक्ता और बोधव्य जब आमने सामने हैं, तो "अस्मि त्वां वच्मि" यह पद अनुपयुक्त होते हुए अर्थान्तर-उपदेश्य तुमको हितभावना से

उपदेश देता हूँ। इस अर्थ में वाच्य परिणत हो जाता है, शिष्य के प्रति उसका हित सम्पादकत्व व्यङ्ग्य है।

अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनि का उदाहरण—

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखित मास्व ततः शरदां शतम्॥२४॥

अपकारी मित्र के प्रति किसी की यह उक्ति है—

आपने बड़ा उपकार किया है, कहाँ तक प्रशंसा की जाय? हे मित्र! सदा ऐसा ही करते हुए तुम सैकड़ों वर्ष तक सुखी रहो।

यहाँ उपकृतादि शब्द अपने अर्थ को अत्यन्त तिरस्कृत करते हुए अपकृतम् अपकार में परिणत हो जाते हैं। अपकारातिशय प्रकाशन व्यङ्ग्य है।

अभिधामूला ध्वनि या विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि।

जहाँ वाच्यार्थ बाधित न होते हुए अन्य परक—व्यङ्ग्य परक होता है।

अर्थात्—वाच्यार्थ अपने स्वरूप का बिना किसी रुकावट के प्रकाशन करता हुआ व्यङ्ग्य में पर्यवसित होता है।

यहाँ वाच्यार्थ व व्यङ्ग्यार्थ के बीच जो क्रम है वह कहीं लक्षित हो जाता है, और कहीं वाच्यार्थ से इतनी जल्दी व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है कि वहाँ बीच में क्रम लक्षित नहीं होता है।

इसी क्रम के लक्षित और अलक्षित के कारण पुनः विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के दो भेद होते हैं—

(१) संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और (२) असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि का जो असंलक्ष्यक्रम ध्वनि नामक भेद हैं, इसी भेद के अन्तर्गत-रस भाव रसाभास व भावाभास भावशान्ति आदि सभी आ जाती हैं। रसादि की जहाँ पर प्राधान्येन स्थिति होगी अन्य वाक्यार्थ या अलङ्कार जहाँ उपस्कारक होंगे वहीं पर रस भावादि को विवक्षितान्यपर वाच्यध्वनि का भेद माना जायेगा। अन्यथा इसके विपरीत स्थिति में तो यदि कहीं अन्य वाक्यार्थ प्रधान हो और रसादि अङ्गभूत उसके उपस्कारक हों तो ऐसी स्थिति में क्रमशः रस के अङ्ग होने पर रसवत् अलङ्कार और भाव के अङ्ग होने पर प्रेयोऽलङ्कार और रसाभास व भावाभास के अङ्ग होने पर उर्जस्वि अलङ्कार होंगे। भाव शक्ति के अङ्ग होने पर समाहितादि अलङ्कार होते हैं—

जैसा कि ध्वन्यालोककार का कथन है—

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः ।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ।। इति।।

आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक में उक्त कारिका द्वारा अलङ्कार्य तथा अलङ्कार का विषय विभाग व्यवस्थित किया था।

उनका कहना था कि रसादि उसी स्थिति में अलंकार्य हो सकते हैं, जब वे प्राधान्येन अभिव्यक्त होते हैं, अन्य वाक्यार्थ या अलंकार उनके उपस्कारक हों, यदि इससे विपरीत स्थिति रसभावादि की कहीं देखी जाय तो वे रसवदादि अलंकार ही माने जायेंगे अर्थात् वे प्रधान ध्वनि के भेद न होकर गुणीभूत-व्यङ्ग्य के ही भेद होंगे।

कुन्तक का विरोध

पूर्वोक्त आनन्दवर्धन की अलंकार्य तथा अलंकार के विषय विभाग व्यवस्था के प्रतिकूल कुन्तक की मान्यता है।

कुन्तक ने अनेक तर्क व वितर्कों के द्वारा स्वभावोक्ति तथा रसवत् अलंकार का जोरदार शब्दों से खण्डन किया है। वे इन दोनों अलंकारों के विषय में प्राचीन दण्डी आदि आलंकारिकों के मत से सहमत नहीं हैं—

स्वभावोक्ति की अलङ्कारता का खण्डन करते हुए उन्होंने लिखा है—

अलङ्कारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः ।
अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते ।।११।।

जिन दण्डी सदृश आलंकारिकों के मत में स्वभावोक्ति भी अलंकार है उनके मत में फिर अलङ्कार्य क्या रह जाता है। अर्थात् कुन्तक के अनुसार स्वभाव ही अलंकार्य है, उसको अलंकार मान लेने पर पुनः "अलंकार्य" किसको कहा जाएगा।

इस विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी का मत भी कुन्तक के ही अनुकूल है—उनके तर्क इस प्रकार हैं—

(१) प्रस्तुत विषय और अप्रस्तुत-विधान-अर्थात् वर्ण्य वस्तु तथा वर्णन प्रणाली में स्पष्ट अन्तर है। स्वभावोक्ति प्रस्तुत वर्ण्य वस्तु है अलंकार वर्णन-प्रणाली है, अतएव स्वभावोक्ति अलंकार नहीं हो सकती।

(२) स्वभावोक्ति की अलंकारता इसी से प्रसिद्ध है कि उसका कोई निश्चित लक्षण नहीं मिलता, किसी ने उसे स्वक्रिया-रूप-वर्णन कहा है, किसी ने अवस्था वर्णन और किसी ने उसे सूक्ष्म-स्वभाव-वर्णन।

(३) मम्मट की परिभाषा में निर्दिष्ट बालक आदि पद का आशय अत्यन्त अस्पष्ट है, स्वयं बालकों की रूप-चेष्टा का वर्णन वात्सल्य रस के अन्तर्गत आता है। वह रस का अङ्ग है अलंकार नहीं, और यदि डिम्भादेः की व्याप्ति सृष्टि की नाना वस्तुओं के रूप और व्यापार तक मान ली जाय तो वह वर्ण्य वस्तु ही है वर्णन प्रणाली नहीं है।

स्वभावोक्ति की ही भांति कुन्तक ने रसवत् अलंकार को भी अलंकार की श्रेणी से हटाकर अलंकार्य पदवी से भूषित किया।

अलंकारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात्।
स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थासङ्गतेरपि ।।११।।

रसादि की प्रतीति के स्थल में रस के अपने स्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी की प्रतीति न होने से और रस के साथ अलंकार शब्द का प्रयोग करने पर भी शब्द तथा अर्थ की सङ्गति न होने से रसवत् अलंकार नहीं अपितु अलंकार्य है।

कुन्तक के मत से—

(१) रसवत् अलंकार अलंकारों का चूड़ामणि है।

(२) नीरस व जड़ पदार्थों में सरसता लाने के लिए यह सत्कवियों का अद्भुत साधन है।

(३) यह अलंकार प्रतीयमान ही होता है।

कुन्तक के शब्दों में इसका मौलिक स्वरूप यह है—

रसेन वर्तते तुल्यं रसवत्वविधानतः।
योऽलंकारः स रसवत् तद्विदाह्लादनिर्मितेः ।।३।१४।।

पर आनन्दवर्धन की स्थापना उनके ध्वनि सिद्धान्त के अनुकूल ही है, जहाँ रसाभावादि अन्य वस्तु या अलङ्कार रूप व्यङ्ग्य का उत्कर्ष करेगा, वहाँ रस उपस्कारक होने से अलंकार का कार्य करता है, ऐसी स्थिति में रसत्व प्रमुक्त चमत्काराधायक होने पर भी प्राधान्य के न रहने से भृत्य के विवाह में प्रवृत्त राजा की तरह उसकी स्थिति होती है। राजा जैसे उस भृत्य के बारात का अङ्ग बनकर शोभा बढ़ाता है, रसवत् अलंकार में भी रस स्वयं अङ्ग बनकर अन्य वाक्यार्थ की शोभाधायक होता है, अतः यह ध्वनि का स्थान नहीं ग्रहण कर सकता है।

स्वभावोक्ति अलंकार के विषय में जो कुन्तक का आक्षेप है, वह किसी वस्तु के सामान्य विशेष भाव को बिना देखे ही है, मम्मटादि आलंकारिकों का

अभिप्राय: विशिष्ट स्वभाव वर्णन ही स्वभावोक्ति अलंकार है। महिमभट्ट ने भी वस्तु के दो रूप माने हैं और अलंकार के लिए वे इसका विशिष्ट रूप ही उपयुक्त मानते हैं। आगे हेमचन्द्र ने तो अपने काव्यानुशासन ग्रन्थ में साफ ही कहा है कि वस्तु का सामान्य स्वरूप भले ही अलंकार्य हो, पर लोकोत्तर अर्थ अलौकिक उस वस्तु का जो सौन्दर्य है वह अलंकार है, वही कवि के वर्णन का विषय है।

नाट्यशास्त्र में, अङ्गज-हावभाव, अयत्नज-शोभा कान्ति आदि स्वभावज-लीलाविलासादि को जिस प्रकार नाट्यालङ्कार के रूप में माना है इसी प्रकार किसी बालक या मृग के भी उसकी सहज या आहार्य जो चेष्टायें हैं वे भी अलंङ्कार हैं, यह स्वभावोक्ति को अलंकार मानने में एक हेतु है।

रस निरूपण—

लोक में रति आदि (स्थायी भाव) के जो कारण कार्य और सहकारी कारण होते हैं, वे ही काव्य व नाटक में वर्णित हों तो क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। उन विभावादियों से अभिव्यक्त वह रति (स्थायी भाव) ही "रस" कहलाता है।

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादे स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्य-काव्ययोः ॥२७॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तै विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः ॥२८॥

(१) **स्थायी भाव**—यद्यपि ये रत्यादि सब अन्तःकरण की वृत्ति रूप हैं, वृत्ति विशेष होने के कारण आशुविनाशी अस्थिर हैं, इन्हीं को अन्यशास्त्रकार या मनोवैज्ञानिक भाव शब्द से कहते हैं, ये भाव कभी अनुकूल होते हैं और कभी प्रतिकूल, समुद्र की लहर की तरह ये चञ्चल हैं, पर इनका संस्कार जिसे वासना कहते हैं वह स्थिर है। यही वासना सूक्ष्मरूप स्थिर होने के कारण स्थायी कहा जाता है। आधुनिक भाषा में इसे इस प्रकार कह सकते हैं—

मनुष्य के अवचेतन मन के अन्तराल में बहुत समय तक सूक्ष्म-रूप से छिपने वाले भाव को ही स्थायीभाव कहते हैं।

यही प्रसुप्त संस्कार उपयुक्त-विभावादि-सामग्री को प्राप्त कर जब अभि-व्यक्त होता है, तब "रस" इस संज्ञा को प्राप्त करता है।

इसीलिए मम्मट ने भी कहा—

"व्यक्तः स तै विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः।"

(२) **विभाव**—वासनारूप में वर्तमान रत्यादि स्थायिभावों की आस्वाद योग्यता को जो कारण प्रदान करते हैं, उन्हें विभाव कहते हैं। **"विभावयन्ति आस्वादयोग्यतां नयन्तीति विभावा"** ये विभाव भी दो प्रकार के होते हैं, आलम्बन विभाव और उद्दीपन विभाव, जैसे—सीता को देखकर राम के मन में, और राम को देखकर सीता के मन में "रति" भाव या अनुराग की उत्पत्ति होती है, और इन दोनों को देखकर (नाटक में या काव्य में पढ़कर) सामाजिक के मन में भी आनन्द की अभिव्यक्ति होती हैं। अतः सीता रामादि शृङ्गार रस के आलम्बन विभाव हैं। और चन्द्र चाँदनी उद्यानादि रति के उद्दीपन विभाव हैं।

(३) **अनुभाव**—अन्तःकरण में अवस्थित विभाव द्वारा उद्बुद्ध उस रति जो उपादान दर्शकों के अनुभव में ला देते हैं उन्हें अनुभाव कहते हैं। "अनुभावयन्ति, अनुभव विषयी कुर्वन्तीति अनुभावाः" स्मितादि लोक में इन्हें कार्य कहते हैं।

(४) **व्यभिचारी भाव**—उद्बुद्ध हुए स्थायिभावों की पुष्टि या उपचय में जो उनके सहकारी होते हैं, उन्हें व्यभिचारीभाव कहते हैं। **"विशेषेण अभितः रत्यादीन् कामे चारयन्तीति संचारयन्तीति व्यभिचारिणः सञ्चारिणो वा"** विविधरूप से स्थायीभाव के अनुकूल संचरण करने वाले भाव, हर्ष-विषाद, चिन्ता, जड़ता आदि ये ३३ हैं।

रस-निष्पत्ति-प्रक्रिया

भरतमुनि ने रस के उन्मीलन की प्रतिष्ठा सबसे पहले अपने नाट्यशास्त्र में की, इस विषय में इनका प्रसिद्ध सूत्र है—जिसको मम्मट ने अपने काव्य-प्रकाश में अविकलरूप में रखा है—"उक्तं हि भरतेन"—**"विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः ॥**

अर्थात्—विभाव, अनुभाव व सञ्चारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। देखने में यह सूत्र जितना छोटा है, विचार में उतना ही सारगर्भित है—अतः अनेक आचार्यों ने इस सूत्र पर अपने अपने सिद्धान्त के अनुकूल व्याख्या की है, अभिनव गुप्त द्वारा रचित नाट्यशास्त्र की व्याख्या अभिनव भारती में, बड़े विस्तार के साथ कई मतों का उपन्यास किया है। पर वहां का व्याख्यान अत्यन्त कठिन व विस्तृत है।

मम्मट ने काव्यप्रकाश में उसी का संक्षिप्त सार उपस्थित किया है। जिसके प्रमुख व्याख्याता-भटटलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक व अभिनवगुप्त ये चार

हैं। ये चारों आचार्य क्रमशः मीमांसा, न्याय, सांख्य व साहित्यशास्त्र के प्रकाश में अपना अपना रस विषयक सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

(१) भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद—

विभाव—आलम्बन व उद्दीपन ललना-उद्यानादि रति आदि उत्पन्न होती है, उसी स्थायी रति के कार्यभूत-कटाक्षादि अनुभावों से प्रतीति योग्य किया गया, (रत्यादिमान्), निर्वेदादि सञ्चारी भावों से पुष्ट किया गया रत्यादि स्थायीभाव मुख्यरूप से अनुकार्य रामादि में रहता है, पर उनके स्वरूप का अनुकरण करने से नट में भी प्रतीत होता है, अर्थात्—नट में भी उसका आरोप होता है। यहीं नट में आरोप्यमाण या प्रतीयमान रत्यादि ही रस है।

सूत्र में आये हुए संयोग व निष्पत्ति इन दो शब्दों के विषय में आचार्यों की अपने अपने सिद्धान्तानुकूल अलग-अलग व्याख्या है।

भट्टलोल्लट मीमांसक हैं, अतः उन्होंने विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोग से अनुकार्य-रामादि में रस की निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति माना। विभावादि उत्पादक सामग्री है। स्थायी भाव उत्पाद्य है, जैसे मीमांसा दर्शन में यागादि उत्पादक सामग्री से अपूर्व द्वारा स्वर्ग उत्पाद्य है, उसी प्रकार यहां रस भी उत्पाद्य है। अतः विभाव का स्थायीभाव रत्यादि के साथ उत्पाद्य उत्पादक भाव सम्बन्ध होगा, और अनुभाव का गम्य-गमकभाव सम्बन्ध, और सहचारी भावों का पोष्य पोषकभाव सम्बन्ध है। यही संयोग शब्द का अर्थ है। और निष्पत्ति शब्द का क्रमशः उत्पति, प्रतीति व पुष्टि ये अर्थ होते हैं।

भट्टलोल्लट के मत में अरुचि—

भट्ट लोल्लट की इस व्याख्या में सबसे बड़ी कमी यह है कि वे रसानुभूति को सामाजिक में न मानकर मुख्य रूप अनुकार्य रामादि में मानते हैं। और उसका आरोप या अप्रधानरूप से नट में मानते हैं। इन दोनों में भी अभिव्यक्ति न मानकर, उत्पत्ति मानते हैं।

शंकुक का अनुमितिवाद—

यह राम ही है, यही राम है। यह राम नहीं है, यह राम है या नहीं यह राम के समान है। इस तरह क्रमशः सम्यक प्रतीति, मिथ्याप्रतीति, संशय प्रतीति तथा सादृश्यप्रतीति, इन चारों प्रकार की प्रतीतियों से भिन्न प्रतीति "चित्रतुरगन्याय" वाली प्रतीति नट में होती है। अर्थात्-चित्र में अङ्कित घोड़े को बालक जैसे घोड़ा ही समझता है, उसी प्रकार ग्राह्य पक्ष नट में राम बुद्धि होती है वह भी इन चार प्रकार की प्रतीतियों से विलक्षण होती है। "यह राम

सीता विषयक रति वाला है, तद् विषयक कटाक्षादि युक्त होने से इस नट पक्ष में कटाक्षादि हेतुओं से सीताविषयक राम की रति का अनुमान किया जाता है। यहाँ विभावादि का रत्यादि के साथ जो संयोग-सम्बन्ध विशेष है वह गम्यगमकभाव है। विभावादि गमक हैं, और रत्यादि गम्य अनुमेय है। वस्तु सौन्दर्य की विशेषता से यह अनुमान अन्न अनुमीयमान अर्थों से विलक्षण है। रस की निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति है।

नट में वास्तविक रूप से न रहने वाले रत्यादि का सामाजिक अपने वासना के बल से नट पक्ष में अनुमान कर लेता है। वस्तुतः अनुमित रस न सामाजिक में रहता है और न कृत्रिम राम (नट) में ही रहता है, केवल वासना मात्र से सामाजिक को उसका आस्वाद होता है। शंकुक की यह रस की अनुमिति न्याय दर्शन के अनुसार है, न्यायशास्त्र अनुमिति प्रधान शास्त्र है, इसीलिए इसमें पक्ष हेतु व साध्य की कल्पना की गई है।

शंकुक के मत में अरुचि—

यद्यपि शंकुक ने सामाजिक में रस प्रतीति सम्पादन करने का अच्छा प्रयत्न किया है, परन्तु उस रस प्रतीति को अनुमेय बनाकर अनुमान द्वारा रस निष्पत्ति उपपादन किया है, जब कि सामाजिक को रस का साक्षात्कार होता है और अनुमान से होने वाला ज्ञान परोक्ष है। साक्षात्कारात्मक नहीं।

भट्टनायक का भुक्तिवाद

भट्ट नायक ने रस की व्याख्या में सबसे पहले दर्शक या सामाजिक के महत्त्व को स्वीकार किया है। इनका कहना है कि रस की निष्पत्ति न तो अनुकार्य रामादि में होती है और न अनुकर्त्ता नटादि में ही होती है। ये दोनों अनुकार्य और अनुकर्त्ता तटस्थ हैं। अतः इसमें रसानुभूति नहीं हो सकती। ये रस की न तो उत्पत्ति मानते हैं, न उसकी प्रतीति मानते हैं और न उसकी व्यक्ति। ये रस को मुक्ति का विषय मानते हैं। रस है भोज्य और विभावादि हैं भोजक अतः रस और विभावादि का परस्पर भोज्य भोजक भाव सम्बन्ध है। भट्ट नायक काव्य में अभिधा व्यापार के अतिरिक्त दो अन्य नये व्यापारों की कल्पना करते हैं। इनके नाम हैं—भावकत्व व्यापार तथा भोजकत्व व्यापार।

काव्य में अभिधा के द्वारा शब्द से अर्थ की उपस्थिति होती है। इसके बाद भावकत्व व्यापार द्वारा उन विभावादि अर्थों का साधारणीकरण हो जाता है। अर्थात्—नाटकस्थ या काव्यस्थ प्रतिपाद्य विषयीभूत पात्र का व्यक्तिगत उसके विशेष सम्बन्धों का परित्याग हो जाता है। इस भावकत्व व्यापार के बल से रङ्गमञ्च में शकुन्तलादि पात्र अपने व्यक्ति विशेष्यांश का परिहार कर सामान्य नायिकात्वेन रूप सामाजिक को दृष्टि में उपस्थित होते हैं, यही

विभावादि का साधारणीकरण है। यहाँ व्यक्ति अपने स्व के सम्बन्ध विशेष से परिच्छिन्न न होकर "वसुधैव कुटुम्बकम्" जैसे अपरिमित भाव से संवलित हो जाता है। फिर वहाँ स्व पर की कोई परिधि नहीं होती है। एक तरह से यह साधारणीकरण व्यापार साहित्यशास्त्र में व्यक्ति के अन्तःकरण का उदात्तीकरण व्यापार है। जहाँ चित्त रागद्वेषोपेक्षादि परिमित प्रपञ्च से ऊपर रहता है। यह सब कार्य है भावकत्व या साधारणीकरण व्यापार का जिसके बल से हनुमानादि राम सेवकों को समुद्र लङ्घनादि जैसा अपरिमित उत्साह हुआ।

कहने का तात्पर्य यह है कि पात्र का यहाँ परिमित भाव विगलित होकर सामान्य अपरिमित भाव का उदय हो जाता है।

तदनन्तर भोजकत्व व्यापार के द्वारा दर्शक या सामाजिक रस का भोग करता है। इस अवस्था में प्रमाता के अन्तःकरण में स्थित रजोगुण व तमोगुण सत्त्व—सत्व गुण की अधिकता के कारण दब जाते हैं। सत्त्व के समुद्रेक के कारणचित्त निर्मल हो जाता, साथ ही साथ उसमें चैतन्य का भी प्रतिफलन होता है। यद्यपि ये भाव रत्यादि चित्त में ही हैं चैतन्य से उनका सम्बन्ध नहीं है, पर चिच्छायापत्ति से वहाँ चित्त व चेतन्य की एकरूपता मालूम पड़ती है। उस रति का भोग तो बुद्धि या अन्तःकरण अथवा चित्त में होने पर भी "बुद्धेर्भोग इवात्मनि" के अनुसार आत्मा में भोग का आरोप किया जाता है। अतः भट्ट नायक का यह मुक्तिवाद सांख्य सिद्धान्त के अनुसार है। इस दर्शन के अनुसार सुख दुःख वस्तुतः अन्तःकरण के धर्म हैं न कि आत्मा के। पुरुष आत्मा में तो उनकी औपाधिक प्रतीति होती है।

इस भट्ट नायक के मत के अनुसार सूत्र में आये हुए संयोग शब्द का अर्थ भोज्य-भोजक या भाव्य-भावक-भाव सम्बन्ध है तथा निष्पत्ति शब्द का अर्थ मुक्ति है।

भट्टनायक के मत में अरुचि—

यद्यपि भावकत्व व भोजकत्व व्यापार की कल्पना कर भटटनायक ने रस सिद्धान्त को समझाने का एक स्तुत्य प्रयास किया है, और भावकत्व व्यापार की नई उद्भावना से साहित्य शास्त्र की बहुत सी सङ्कीर्णताओं को दूर करने का सफल प्रयास किया है, और साधारणीकरण की इस प्रक्रिया की प्रतिष्ठा करके अपने मनोवैज्ञानिक परिशीलन का परिचय भी दिया है। भावी आलंकारिकों ने जिसका यथेच्छ उपयोग भी किया है, परन्तु जो दो नये भावकत्व व भोजकत्व नामक व्यापारों की कल्पना की है, इस पर अधिक विद्वानों की सम्मति नहीं रही।

अभिनवगुप्त का व्यक्तिवाद—

साहित्य शास्त्र में अभिनवगुप्त ध्वनिवादी आचार्य हैं। वे आनन्दवर्धन के ध्वनि तत्त्व के व्याख्याता हैं और भरत मुनि के रसतत्त्व के भी व्याख्याता हैं, रस ध्वनि के प्रभेदों में अन्यतम प्रभेद है।

यह अभिधा का विषय नहीं है, और न लक्षणा से ही लक्षित है अपितु व्यञ्जना शक्ति के द्वारा अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार रस तथा विभावादिकों में परस्पर व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव है।

अभिनवगुप्त का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति में श्रोता या वक्ता में राग, द्वेष, शोक, क्रोधादि भाव विद्यमान रहते हैं। ये भाव अपनी उपयुक्त सामग्री को पाकर प्रबुद्ध हो जाते हैं। अन्यथा चित्त शय्या में प्रसुप्त ही रहते हैं। प्रतिदिन के संघर्ष से इनका सूक्ष्म संस्कार अन्तःकरण में घर कर लेता है। यही वासना रूप में हृदय में स्थिर हो जाते हैं। इन्हीं को स्थायी भाव भी कहते हैं। यही वासना जिसमें परिपूर्ण है वही रस का अनुभव करता है। तत्तत् भावनाओं तत्तत् उद्बोधक सामग्री की सहायता से अपना उपचय करती हैं। इन्हीं भावनाओं के उन्मीलन व विकास का क्रम यदि काव्य व नाट्य में वर्णन किया जाता है तो वे कुछ अलौकिक आनन्द को प्रदान करते हैं। काव्य में इस उत्पादक सामग्री का वर्णन कार्य-कारण सहकारी कारण न होकर विभाव अनुभाव व सञ्चारी भाव के नाम किया जाता है। यही विभावादि उक्त वासनारूप में स्थित स्थायी की अभिव्यक्ति करते हैं। और व्यंजना व्यापार के द्वारा इन विभावादिकों का साधारणीकरण तथा रत्यादियों का रसरूप में अभिव्यंजन होता है। रसाभिव्यक्ति की दशा में सभी वस्तुओं का साधारणीकरण हो जाता है और सामाजिक भी अपने को सामान्य रूप में ही पाता है। वह रस को केवल अपने स्व व्यक्ति तक न मानकर सभी सामाजिकों को रस का अनुभवकर्ता मानता है। यह आनन्द सामान्य लौकिक आनन्द से विलक्षण ब्रह्मानन्द सहोदर है। यही रस के अलौकिकत्व का रहस्य है कि अन्य आनन्द जो कि अपने कारण पर निर्भर रहते हैं। वे सुख दुःखादि के भी जनक होते हैं, पर यह तो दुःख कारणों से समुत्पन्न हुआ भी सुख की ही अनुभूति कराता है। जैसे शोक बुद्धि या भय स्थायिभावों से अभिव्यक्त करुण रौद्र या भयानक प्रमाता को आनन्दानुभूति ही कराता है। इसीलिए कहा है "रसो वै सः। रसं ह्येवं लब्ध्वाऽयमानन्दी भवति"।

रस की अलौकिकता—

अभिनवगुप्त ने रस को "अलौकिक" कहा है, अर्थात् वह अन्य वस्तुओं से भिन्न है, मम्मट ने अपने शब्दों में इसे इस प्रकार कहा है—लोक में पायी जाने वाली अनित्य वस्तुएँ दो प्रकार की होती हैं एक कार्य रूप और दूसरी ज्ञाप्य-रूप। घट-पट आदि पदार्थ कार्य-रूप हैं। ये किसी कारण से उत्पन्न होते हैं इसीलिए कार्य हैं। और इनका जनक कारण "कारक" कहलाता है, दूसरे प्रकार के विषय ज्ञान के विषय या ज्ञाप्य होते हैं। जैसे दीपक के प्रकाश में

घट का ज्ञान होता है, इसलिए दीपक के द्वारा घट ज्ञाप्य है, पूर्व सिद्ध पदार्थ का जब किसी साधन के द्वारा ज्ञान होता है तो वह ज्ञाप्य कहा जाता है। जो पूर्व सिद्ध नहीं है कारण व्यापार से निष्पन्न होता है वह कार्य कहलाता है। संसार के सारे पदार्थ इन्हीं दो वर्गों में (कार्य और ज्ञाप्य) आते हैं। परन्तु रस न तो कार्य है और न ज्ञाप्य ही। कार्य इसलिए नहीं है कि कार्य तो निमित्त नाश होने पर भी बना ही रहता है जैसे घटादि कार्य निमित्त कारण कुम्हार के मर जाने पर भी बने रहते हैं पर रस तो अपने निमित्त विभावादि अवधि तक है। अतः कार्य नहीं है। रस ज्ञाप्य इसलिए नहीं है कि वह पूर्वसिद्ध नहीं है। अनुभव से पूर्व रस की सत्ता नहीं है अपितु अनुभव काल में ही व्यंजना व्यापार द्वारा वह अभिव्यक्त होने वाला है। इन दोनों वर्गों में न आने से रस लोक विलक्षण ही कोई आनन्द है।

पुनश्च यह वेद्यान्तर स्पर्श शून्य है—अर्थात् लौकिक प्रत्यक्ष के जितने प्रकार हैं उन सबसे विलक्षण अलौकिक साक्षात्कारात्मक या अलौकिक-अपरोक्षानुभूति स्वरूप रस है। अस्मदादि का साक्षात्कारात्मकज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा ही होता है और मितयोगी-सविकल्पक समाधि में स्थित युञ्जानपदवाच्य का ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों के बिना भी केवल योगज सामर्थ्य से भी हो जाता है, तीसरे परिमितेतर योगी-परिपक्व-निर्विकल्पसमाधि में स्थित योगी का ज्ञान, वेद्यान्तर के स्पर्श से रहित केवल आत्मानुभूति मात्र होता है, रस की अनुभूति इन तीन प्रकार के ज्ञानों से विलक्षण हैं। वह न तो अस्मदादि के प्रत्यक्ष के समान, प्रत्यक्ष प्रमाणों से उत्पन्न होती है, न प्रमाणताध्य वाले मितयोगी के ज्ञान का विषय है, और न निर्विकल्प समाधि में स्थित योगियों की वेद्यान्तर-स्पर्श रहित आत्मानुभूति ही है, इस प्रकार इन तीनों प्रकार की अनुभूति से विलक्षण होने के कारण वह अलौकिक ही है, और इसलिए भी वह अलौकिक है कि उसका ग्रहण न सविकल्पक ज्ञान से हो सकता है, और न निर्विकल्पक ज्ञान से, क्योंकि रस की प्रतीति में विभावादि के परामर्श की प्रधानता होने से निर्विकल्पक-ज्ञान उसका ग्राहक नहीं हो सकता है, और आस्वाद्यमान अलौकिक आनन्दमय रस के स्व संवेदन सिद्ध होने से सविकल्पक-ज्ञान भी उसका ग्राहक नहीं हो सकता है तथा उभयाभावस्वरूप का (अर्थात् निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनों से भिन्न उस रस का) उभयात्मकत्व भी पहले के समान लोकोत्तरता को ही बोधित करता है, यही श्रीमान् महामाहेश्वर अभिनव गुप्त पदाचार्य का मत है।

विभावादि की सम्मिलित रूप से कारणता व्याघ्रादि विभाव, भयानक रस के समान वीर अद्‌भुत तथा रौद्र रस के प्रति भी हो सकते हैं, अश्रुपात

आदि अनुभाव शृङ्गार के समान करुण तथा भयानक रस के भी हो सकते हैं, चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव शृङ्गार के समान वीर करुण तथा भयानक रस के भी हो सकते हैं। इसलिए उनके अलग-अलग अनैकान्तिक होने से (अर्थात् किसी एक ही रस के साथ निश्चित न होने से) सूत्र में उनको सम्मिलित रूप से निर्दिष्ट किया गया है।

विभावादि के मध्य में तीनों में से एक या दो के अनुक्त होने पर भी आक्षेप द्वारा उनका बोध—जैसे—"वियदलिमलिनाम्बु गर्भ मेघम्" इत्यादि में दयिता रूप आलम्बन व वर्षाकाल उद्दीपन विभाव मात्र का वर्णन है।

"परिमृदित मृणालीम्लानमङ्गं प्रवृत्तिः"

इत्यादि में मालती के अङ्गग्लानि पाण्डुता आदि केवल अनुभावों का वर्णन है और "दूरादुत्सुकमागते विवलितं सम्भाषिणि स्फारितंम्" इत्यादि में केवल औत्सुक्य आदि व्यभिचारिभावों का ही वर्णन किया गया है फिर भी इनके प्रकृत रति के बोध में असाधारण ज्ञापक होने से, शेष दो का आक्षेप हो जाता है अतः तीनों के सम्मिलित रूप से रस निष्पत्ति-सिद्धान्त में कोई दोष नहीं आता है।

रसों के भेद—

शृङ्गार हास्य-करुण-रौद्र-वीर-भयानकाः ।
वीभत्साद्‌भुत संज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसा स्मृताः ॥२२॥

(१) शृङ्गार (२) हास्य (३) करुण (४) रौद्र (५) वीर (६) भयानक (७) वीभत्स और (८) अद्‌भुत ये आठ रस नाट्य में माने जाते हैं।

भाव के भेद—

भाव दो प्रकार के होते हैं एक वे हैं जो स्थिर रहने की योग्यता रखते हैं, ये स्थायीभाव कहलाते हैं।

दूसरे वे हैं जो कई क्षणों तक ही स्थिर रहते हैं। इसी अस्थायिता के कारण इन्हें संचारी भाव या व्यभिचारीभाव कहते हैं, संचारी भावों की संख्या ३३ है परन्तु स्थायी भावों के विषय में बड़ा मतभेद है।

अभिनवगुप्त व मम्मट इनकी संख्या नौ ही मानते हैं और इनसे उत्पन्न होने वाले रसों की संख्या भी नौ ही मानते हैं।

स्थायीभाव	रस	वर्ण	देवता
(१) रति	शृङ्गार	श्याम	विष्णु
(२) हास	हास्य	श्वेत	प्रमथ
(३) शोक	करुण	कपोत	यम
(४) क्रोध	रौद्र	रक्त	रुद्र
(५) उत्साह	वीर	हेम	महेन्द्र
(६) भय	भयानक	कृष्ण	भूत
(७) जुगुप्सा	वीभत्स	नील	महाकाल
(८) विस्मय	अद्‌भुत	पीत	गन्धर्व
(९) शम	शान्त	इन्दुवर्ण	नारायण

आगे चलकर स्थायी भावों की तथा रसों की संख्या बढ़ती गई। विश्वनाथ कविराज ने "वात्सल्य भाव" तथा "वात्सल्यरस" की प्रतिष्ठा की, तथा रूपगोस्वामी ने माधुर्यरस (भक्तिरस) नामक एक नवीन रस की प्रतिष्ठा की, इसका विस्तृत विवेचन इन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "उज्ज्वलनीलमणि" में किया।

इस भक्तिरस का भी स्थायीभाव रति ही है, परन्तु अन्तर इतना है कि यहाँ दिव्या कृष्णविषयक रति ही भक्तिरस के लिए स्थायीभाव मानी गई है।

शान्त रस के विषय में भी मतभेद है। धनञ्जय नाटक में शान्त रस की स्थिति नहीं मानते हैं।

व्यभिचारी भाव या सञ्चारी भाव ३३ हैं—

(१) निर्वेद (२) ग्लानि (३) (शंका) (४) श्रम (५) धृति (६) जड़ता (७) हर्ष (८) दैन्य (९) उग्रता (१०) चिन्ता (११) त्रास (१२) ईर्ष्या (१३) अमर्ष (१४) गर्व (१५) स्मृति (१६) मरण (१७) मद (१८) सुप्त (१९) निद्रा (२०) विबोध (२१) क्रीड़ा (२२) अपलाप (२३) मोह (२४) मति (२५) आलस्य (२६) आवेग (२७) वितर्क (२८) अवहित्था (२९) व्याधि (३०) उन्माद (३१) विषाद (३२) औत्सुक्य (३३) चापल इत्यादि हैं।

शृङ्गार रस और उसके भेद—

इन रसों में सर्वप्रथम शृङ्गार रस है।

(१) **स्थायी भाव**—रति (नायक तथा नायिका का अनुराग)

(२) आलम्बन विभाव—परस्पर एक दूसरे के ।

(३) उद्दीपन विभाव—चन्द्र-चाँदनी, उद्यानादि ।

(४) अनुभाव—अनुरागपूर्व चेष्टा में परस्परावलोकनादि ।

(५) व्यभिचारी भाव—हर्ष, चिन्ता, मद, उत्कण्ठादि ।

शृङ्गार के मुख्य दो भेद होते हैं—

(१) सम्भोग शृंगार तथा (२) विप्रलम्भ शृंगार ।

एक दूसरे में अनुरक्त नायक नायिका का परस्पर मिलन युक्त शृंगार सम्भोग शृंगार है—

उदाहरण—

> शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
> र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
> विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
> लज्जा नम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥१॥

नायक यहाँ आलम्बन विभाव है, शून्यवासगृह उद्दीपन विभाव है, मुख निर्वर्णन चुम्बनादि अनुभाव हैं, लज्जा, हास तथा उससे व्यङ्ग्य हर्षादि व्यभिचारी भाव हैं । इनसे अभिव्यक्त रति की चर्वणा ही शृंगार रस है ।

विप्रलम्भ-शृंगार—

विप्रलम्भ शृंगार उसे कहते हैं, जहाँ उत्कट अनुराग होने पर भी प्रिय समागम न हो सके—

यह अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास, शाप हेतुओं के भेद से पांच प्रकार का होता है ।

साहित्य दर्पणकार आदि कुछ आचार्यों ने इसे चार ही प्रकार का माना है—

> पूर्वानुराग-मानाख्य-प्रवास-करुणात्मना ।
> विप्रलम्भाभिधानोऽयं शृंगारं स्याच्चतुर्विधः ॥

पूर्वानुराग, मान, प्रवास, करुणविप्रलम्भ के भेद से यह चार ही प्रकार का माना है ।

विप्रलम्भ सामान्य का उदाहरण—

> त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया,
> मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।

अस्त्रै स्तावन्मुहुरुपचितै र्दृष्टिरालुप्यते मे,
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः ।।२।।

यह पद्य महाकवि कालिदास के मेघदूत का है। प्रिया को उद्देश्य कर वियोगी यक्ष का विलाप इस प्रकार है—

पत्थर की शिला पर गसे आदि धातु के रंङ्गों से तुम्हारा चित्र बनाकर, मैं जब तक चित्र में अपने को तुम्हारे चरणों में गिराना चाहता हूं, तब तक आँसू बढ़कर मेरी दृष्टि को आच्छादित कर देते हैं। और मैं उस चित्र को पूरा नहीं कर पाता हूं, निष्ठुर दैव उस चित्र में भी हमारे सङ्गम को सहन नहीं करता है, यहाँ नायिका आलम्बन है, उसका प्रणय कोप उद्दीपन है, चरणपातादि अनुभाव हैं। कृतान्त विषयक असूयादि सञ्चारी भाव हैं, इससे अभिव्यक्त विप्रलम्भ रति की चर्वणा ही विप्रलम्भ शृंगार है।

(२) हास्य रस—

विकृत आकार, वेष, चेष्टादिव्यवहार के वर्णन से हास्य रस होता है।

(१) स्थायी भाव—हास
(२) आलम्बन विभाव—विकृत वेष या विकृत चेष्टायुक्त व्यक्ति
(३) उद्दीपन विभाव—अनुपयुक्त वचन, वेषविन्यासादि
अनुभाव—मुख फैलना, आंखों का मींचना आदि
व्यभिचारी भाव—निद्रा, आलस्य, चपलतादि

उदाहरण—

सीस पर गंगा हंसै भुजनि भुजंगा हंसै,
हास ही को दंगा भयो नंगा के विवाह में ।।

पद्माकर कविकृत इस पद्य में महादेव जी के विवाह का प्रसङ्ग है, यहाँ महादेवजी आलम्बन हैं, नंगारूप उद्दीपन है, लोगों का लोटपोट कर हँसना अनुभाव है, उत्सुकता चपलता आदि सञ्चारी भाव हैं, इससे अभिव्यक्त हास स्थायी भाव है।

(३) करुण रस—

(१) स्थायी भाव—शोक
(२) आलम्बन विभाव—कोई मृत व्यक्ति या दीनहीन व्यक्ति,
(३) उद्दीपन विभाव—मृतव्यक्ति के दाहविलापादि;
(४) अनुभाव—भाग्य को कोसना, रोना इत्यादि;
(५) सञ्चारी भाव—निर्वेद, मोह, विषादादि।

उदाहरण—

विपिने क्व जटा निबन्धनं तव चेदं क्व मनोहरं वपुः ।
अनयोर्घटना विधेः स्फुटं ननु खड्गेन शिरीषकर्त्तनम् ।।३।।

वनवास के लिए उद्यत हुए राम के प्रति दशरथ की यह उक्ति है, यहाँ राम आलम्बन हैं, उनका वनगमनादि उद्दीपन है, दैवनिन्दा अनुभाव है, ग्लानि-विषादादि सञ्चारी भाव हैं, इनसे अभिव्यक्त शोक स्थायीभाव की चर्वणा करुण है ।

(४) रौद्र रस—

(१) स्थायी भाव—क्रोध ।
(२) आलम्बन विभाव—अपकारी व्यक्ति या शत्रु
(३) उद्दीपन विभाव—मत्सर या शत्रु कृत अपकारादि ।
(४) अनुभाव—डींगें मारना, शस्त्र चमकाना आदि ।
(५) व्यभिचारी भाव—अमर्ष, मद, उग्रता आदि ।

उदाहरण—

"कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकम्" इत्यादि—

द्रोणाचार्य का निधन सुनकर अश्वत्थामा की अर्जुनादियों के प्रति यह उक्ति है । यहाँ अपकारी अर्जुनादि आलम्बन हैं, पितृवधादि उद्दीपन हैं, प्रतिज्ञा अनुभाव है गर्वादि सञ्चारी भाव है, इनसे अभिव्यक्त क्रोध स्थायी भाव है ।

(५) वीर रस—

(१) स्थायी भाव—उत्साह
(२) आलम्बन विभाव—शत्रु जिस पर अधिकार प्राप्त करना है ।
(३) उद्दीपन विभाव—शत्रु का प्रताप, शौर्य आदि ।
(४) अनुभाव—हथियारों का चलाना, नेत्रों का लाल होना इत्यादि ।
(५) सञ्चारी भाव—मति, गर्व, धृति इत्यादि ।

इनसे अभिव्यक्त उत्साह स्थायी की चर्वणा ही वीर रस है ।

उदाहरण—

क्षुद्राः संत्रासमेते विजहत हरयः क्षुण्णशक्रेभकुम्भाः ।
युष्मद्देहेषु लज्जां दधति परममी सायका निष्पतन्तः ।।
सौमित्रे ! तिष्ठ पात्रं त्वमसि नहि रुषां नन्वहं मेघनादः ।
किञ्चिद्भ्रूभङ्गलीलानियमितजलधिं राममन्वेषयामि ।।५।।

यह पद्य हनुमन्नाटक का है, लङ्का के युद्ध के समय मेघनाद की यह उक्ति है।

यहां प्रतिपक्षी राम आलम्बन हैं, किञ्चित् भ्रूभङ्ग की ही लीला से समुद्र बन्धन कर देना उद्दीपन है, क्षुद्रावसरों की उपेक्षा और प्रतापशाली राम का अन्वेषण अनुभाव है। ऐरावत हाथी के गण्डस्थल को भेदन करने वाले बाणों का वानरों के शरीर में गिरने से लज्जा का अनुभव करना इससे अभिव्यक्त गर्व सञ्चारी भाव है, राम से लड़ने का उत्साह स्थायी से वीर रस की अभिव्यक्ति हो रही है।

(६) भयानक रस—

(१) **स्थायी भाव**—भय।
(२) **आलम्बन**—शेर आदि भयानक जन्तु या वस्तु विशेष।
(३) **उद्दीपन**—भयानक वस्तु या जन्तु की चेष्टादि।
(४) **अनुभाव**—कम्पनादि किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाना।
(५) **सञ्चारी भाव**—दैन्य, संगम, सम्मोह, त्रासादि।

उदाहरण—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः।
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयात् भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा।
पश्योदग्रप्लुतत्वाद् वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥६॥

यह पद्य अभिज्ञान शाकुन्तल का है—राजा दुष्यन्त के रथ से भयभीत आश्रम की ओर भागते हुए मृग का वर्णन है—यहां पीछा करने वाला राजा या रथ, आलम्बन है, बाण लगने का भय या और अनुसरण उद्दीपन है, गर्दन मोड़ कर भागना आदि अनुभाव, और त्रास-श्रम आदि व्यभिचारी भाव हैं, इनसे अभिव्यक्त भयस्थायी भयानक रस सामाजिकों के चर्वणा का विषय है।

(७) बीभत्स रस—

(१) **स्थायी भाव**—जुगुप्सा
(२) **आलम्बन**—दुर्गन्धमय मांसादि।
(३) **उद्दीपन**—मांसादि सड़ना, उनमें दुर्गन्ध का आना आदि
(४) **अनुभाव**—नाक भौं सिकोड़ना आदि
(५) **सञ्चारी भाव**—आवेग, व्याधि, मोहादि

उदाहरण—

"उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूत्सेधभूयांसि मांसनि" इत्यादि

यह पद्य मालती माधव नाटक का है, इसमें श्मशान का वर्णन है। श्मशान में किसी प्रेत को मांस भक्षण में लगे हुए देखकर उसकी वीभत्स चेष्टाओं का वर्णन माधव कर रहा है—यहां दरिद्र प्रेत आलम्बन है, मांस नोंचना, खाना आदि उद्दीपन हैं, इस चेष्टा को देखने वाले का नाक भौं सिकोड़ना, थूकना आदि अनुभाव हैं, उद्वेगादि सञ्चारी भाव हैं। जुगुप्सा स्थायी भाव है, इससे सामाजिक में जुगुप्सा प्रकृतिक वीभत्सरस अभिव्यक्त होता है।

(८) अद्भुत रस—

(१) स्थायी भाव—विस्मय।

(२) आलम्बन—कोई अलौकिक या आश्चर्य उत्पन्न करने वाला पदार्थ

(३) उद्दीपन—अलौकिक वस्तु का दर्शन, श्रवण या कीर्तन।

(४) अनुभाव—प्रशंसा करना, गद्गद् हो जाना।

(५) सञ्चारी भाव—हर्ष, आवेग, धृति।

उदाहरण—

चित्रं महानेष वतावतारः क्व कान्तिरेषाऽभिनवैव भङ्गिः।
लोकोत्तरं धैर्यमहो प्रभावः, काऽप्याकृतिर्नूतन एष सर्गः ॥८॥

वामनावतार को देखकर राजा बलि की यह उक्ति है—यहां चित्र शब्द लोकोत्तर वाचक है, इसलिए स्वशब्द वाच्यता दोष नहीं है। वामन आलम्बन हैं, कान्ति तथा गुणों का अतिशय उद्दीपन है, स्तुति आदि अनुभाव हैं, मति, धृति, हर्षादि भाव सञ्चारी हैं, इनसे अभिव्यक्त विस्मय स्थायिक अद्भुत रस है।

(९) शान्त रस—

(१) स्थायी भाव—"शम" (चित्त का शान्त होना) या "निर्वेद" (संसार के प्रति वैराग्य)

(२) आलम्बन—परमात्मा का चिन्तन या जगत् के मिथ्यात्व का ज्ञान।

(३) उद्दीपन—सत्सङ्ग, पुण्याश्रम, तीर्थस्थानादि का दर्शन

(४) अनुभाव—रोमाञ्चित या गद्गद् हो जाना,

(५) सञ्चारी भाव—मति, हर्ष, स्मृति आदि।

उदाहरण—

अहोवा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा।
मणौ वा लोष्ठे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा ॥
वृषे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्ति दिवसाः।
क्वचित् पुण्यारण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपतः ॥९॥

किसी भगवद्भक्त का अपनी जीवन चर्या का यह वर्णन है—सांप और मुक्ताहार में, फूलों की सेज और पत्थर की शिला में, मणि तथा ढेले में, बलवान शत्रु तथा मित्र में, तिनके में अथवा स्त्रियों के समूह में, समान बुद्धि रखने वाले मेरे दिन किसी पवित्र तपोवन में शिव शिव जपते हुए व्यतीत होते हैं। यहां मिथ्याप्रतीत होने वाला जगत्-आलम्बन है, तपोवनादि उद्दीपन हैं, सर्प व हारादि में समभाव अनुभाव है, धृति, प्रबोध मति, हर्षादि व्यभिचारी भाव हैं, इनसे अभिव्यक्त निर्वेद स्थायी भाव से सामाजिक में शान्त रस की अनुभूति होती है।

आचार्य मम्मट के शब्दों में—

"निर्वेद स्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः" । इस प्रकार है।

शान्त रस के विषय में आचार्यों की भिन्न भिन्न धारणायें हैं। धनञ्जय ने अपने दशरूपक में तथा धनिक ने उसकी टीका में शान्त रस के विरुद्ध अनेक मतों का उल्लेख किया है।

(१) शान्त रस प्रस्थान विरुद्ध है।

साहित्य संसार में भरत मुनि के ही वचन प्रमाण माने जाते हैं, उन्होंने शान्त रस का विशेष विवेचन नहीं किया है, अतःएव भरत द्वारा विशेष अनुभव न होने से शान्त रस नहीं है।

(२) शम का व्यवहारिक क्षेत्र में अभाव—

दूसरे आचार्य शम स्थायिक शान्त की सत्ता ही नहीं मानते हैं। प्रथम मत में शम की केवल काव्य और नाटक में मान्यता स्वीकार नहीं है, परन्तु द्वितीय मत ने तो व्यवहारिक क्षेत्र में भी उसकी मान्यता स्वीकार नहीं की। क्योंकि रागद्वेष का प्रवाह मनुष्यों में अनादिकाल से चला आता है, जिसका सर्वथा नाश असम्भव है, ऐसी स्थिति में शान्त रस का उदय ही कैसे हो सकता है।

(३) तृतीयमत—अन्तर्भाववाद—

इस मत के आचार्य चित्त की शमप्रधान वृत्ति को तो अवश्य मानते हैं, परन्तु इसका अन्तर्भाव वीरादि रसों में कर देते हैं। शमप्रधान चित्त में परम तत्त्व को पाने के लिए जो प्रयत्न होता है, वह उत्साहमय होने से शान्तरस वीर में ही अन्तर्निविष्ट किया जा सकता है। जब इसमें संसार के विषयों से जुगुप्सा तथा घृणा का भाव प्रबल रहता है, तब इसका अन्तर्भाव वीभत्स रस के भीतर हो जाता है, यह मत व्यवहार में शम का अपलाप तो नहीं करता परन्तु तज्जन्य शान्तरस को स्वतन्त्र नहीं मानता है।

(४) चतुर्थ मत—नाटक में शान्त रस का निषेध—

इस मत के अनुसार शान्त रस की स्थिति अवश्य है। परन्तु इनका प्रयोग नाटक में नहीं हो सकता, व्यापार के विराम होने पर शान्त रस होता है। शान्त रस वहीं होता है। जहां दुःख भी नहीं है, सुख भी नहीं है, न द्वेष है, और न चिन्ता, न राग—

न यत्र दुःख न सुखं न चिन्ता,
न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः,
सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः ॥

यह स्थिति तो मोक्षावस्था में ही सम्भव है। नाटक में तो अभिनय होने से व्यापार की ही प्रधानता है। सुख, दुःख, राग, द्वेष आदि मनोभावों का प्रदर्शन नाटक में अभीष्ट है। ऐसी दशा में तो शान्तरस का अभिनय होना ही मुश्किल है।

शान्तरस अनिर्वचनीय होता है। अतः रसिकों के आस्वाद के योग्य न होने से, शान्तरस का प्रयोग नाटक में नहीं हो सकता यह दशरूपककार का मत है।

(५) पञ्चम मत—(शान्त रस की सार्वत्रिक स्थिति)—

अभिनव गुप्त का मत है कि शान्त रस काव्य में तथा नाटक में दोनों में रहता है। पर इसके स्थायी भाव के विषय में मतभेद है, शान्तरस की सत्ता के विषय में मतभेद नहीं है, बल्कि अभिनव गुप्त के मत में तो शान्त रस ही सर्वश्रेष्ठ रस है। यही प्रकृति रस है, शृंगारादि तो इसकी नाना विकृतियां हैं कश्मीर के शैवाचार्य अभिनव गुप्त का शान्त रस का प्राधान्य बोधक यह मत उनके दार्शनिक दृष्टिकोण के सर्वथा अनुकूल ही है।

(१०) वात्सल्य रस—

विश्वनाथ कविराज ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "साहित्यदर्पण" में इसे एक स्वतन्त्र रस के रूप में प्रतिष्ठित किया है, हिन्दी साहित्यिकों में तुलसी और सूरदास ने इस रस की कविताओं की रचना कर हिन्दी साहित्य को उज्जवल किया है।

इसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) स्थायी भाव—अपने से छोटों में जो प्रेम किया जाता है जैसे—

(२) आलम्बन—भाई-बहिन-पुत्र-कन्या आदि ।
(३) उद्दीपन—तोतली बोली आदि उनकी ललित क्रीड़ादि।
(४) अनुभाव—आलिङ्गन, चूमनादि ।
(५) सञ्चारी भाव—हर्ष, गर्व, उत्सुकता इत्यादि ।

उदाहरण—

यदाह धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलीम् ।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः ।।१०।।

रघुवंश में रघु के शैशवावस्था का यह वर्णन है—यहाँ बालक रघु आलम्बन है, धाई के अनुसार तोतली भाषा में उसकी उक्ति उद्दीपन है। आलिङ्गन चुम्बनादि अनुभाव हैं। हर्षादि सञ्चारीभाव है । इनसे अभिव्यक्त दिलीपनिष्ठ वात्सल्य सामाजिकों के चर्वणा का विषय है ।

(११) भक्ति रस—

भक्ति रस के विषय में आचार्यों में बड़ा मत भेद है । प्राचीन आचार्य इसे देवता विषयक रति मानकर केवल भाव कोटि में ही इसका अन्तर्भाव कर देते हैं ।

परन्तु गौडीय वैष्णवों ने इसे रस ही नहीं माना बल्कि सर्वश्रेष्ठ आदि रस माना है। श्रीरूप गोस्वामी के "भक्तिरसामृतसिन्धु" तथा "उज्ज्वलनीलमणि" ग्रन्थ इस विषय के सबसे श्रेष्ठ बोधक तथा परिचायक ग्रन्थ हैं ।

(१) स्थायी भाव—श्री कृष्ण विषयक रति ।

अन्य देव विषयक रति तो केवल भाव ही होती है, परन्तु श्रीकृष्ण तो साक्षात् परमात्मा ही हैं। "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" अत: परमात्मस्वरूप कृष्ण विषयक रति, देवविषयक रति से भिन्न पदार्थ है। वही यहाँ स्थायी भाव है।

(२) आलम्बन—श्रीकृष्ण रामादि
(३) उद्दीपन—भक्तों समागम, तीर्थसेवनादि
(४) अनुभाव—भगवान् के नाम व लीलाओं का कीर्तनादि ।
(५) सञ्चारी भाव—मति, हर्ष, वितर्क, आदि ।

उदाहरण—

गणिकाऽजामिल मुख्यानवता भवता वताऽहम् ।
सीदन् भवमरुगर्ते करुणा मूर्ते न सर्वथोपेक्ष्यः ।।११।।

अथवा

व्याध हूँ ते बेहद असाधु हों अजमिल लौं ।
ग्राह ते गुमाही कैसे तिनमों गिनाओगे
................कैसे अपनाओगें, इत्यादि ।

यहाँ कवि या भक्त भगवान् के सामने अपने अपराधों को स्वीकार करता है और क्षमा की याचना के अभिप्राय से विनती कर रहा है । भगवान् आलम्बन विभाव हैं तथा भगवद् विषयक रति स्थायीभाव है, पूर्णभक्ति चर्वणा का विषय है ।

मूल रस—

इस प्रकार रसों की संख्या आठ से लेकर ग्यारह तक पहुँच चुकी है । किन्तु इनमें भी अनेक आचार्यों ने प्रधानता तथा अप्रधानता की दृष्टि से अलग अलग मूल रसों की कल्पना की है । स्वयं भरत मुनि ने आठ रसों का मूल शृङ्गार, रौद्र, वीर तथा वीभत्स इन चार रसों को माना है । इन चारों को प्रधान मानकर शेष रसों की उत्पत्ति भी इन्हीं से मानी है—

शृङ्गादि भवेद्हास्यो रौद्राच्च करुणो रसः ।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिः वीभत्साच्च भयानकः ॥१॥

एकरसवाद—

इसके अतिरिक्त अपनी अपनी दृष्टि से किसी एक रस को मूल रस मानने की प्रवृत्ति भी साहित्य शास्त्र में पायी जाती है ।

इस विषय में निम्नलिखित मतों का उल्लेख किया जा सकता है ।

(१) महाकवि भवभूति ने करुणरस को ही एक मात्र रस मानकर अन्य रसों को उसी का विवर्त माना है ।

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद् ।
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ।
आवर्त-बुद्बुद-तरङ्गमयान् विकारान् ।
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम् ॥२॥

(२) भोजराज ने अपने "शृङ्गारप्रकाश" नामक ग्रन्थ में शृङ्गार रस को ही एकमात्र मूल रस बतलाते हुए लिखा है—

शृङ्गार वीर-करुणाद्भुत-रौद्र-हास्य ।
वीभत्स-वत्सल-भयानक शान्त नाम्नः ॥

आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो वयं तु ।
शृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनामः ॥३॥

(३) साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने अपने पूर्वज नारायण पण्डित के केवल अद्भुत रस को ही मूल रस मानने का निर्देश किया है—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते ।
तच्चमत्कारसारत्वात् सर्वत्राप्यद्भुतो रसः ।
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ॥४॥

(४) अभिनव गुप्त ने शान्त रस को ही एक मात्र मूल रस प्रतिपादन करते हुए अभिनव भारती में लिखा है—

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते ॥५॥

रसों की सुख-दुःखरूपता—

रसों की अलौकिकता के साथ साथ उनकी सुखदुःखरूपता का भी प्रश्न प्राचीन साहित्य शास्त्रियों के लिए एक विवेचनीय प्रश्न रहा है। इस विषय में प्रायः तीन प्रकार के मत हैं।

(१) अभिनव गुप्त ने प्रत्येक रस को उभयात्मक माना है उनका कहना है, शृङ्गारादि चार रसों में सुख की मात्रा अधिक है और शेष रौद्र, भयानक वीभत्स, व करुण में इनमें दुःख की प्रधानता हैं। पर आंशिक रूप में सुख भी रहता है। केवल शान्त रस पूर्ण सुखात्मक है।

(२) नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र व ग्रणचन्द्र का मत विभज्यवादी है, उन्होंने शृङ्गार, हास्य; वीर, अद्भुत, और शान्त रस को सर्वथा सुखात्मक माना है, और शेष चार रसों को सर्वथा दुःखात्मक माना है।

(३) धनिक धनञ्जय विश्वनाथ मम्मटादि सभी रसों को नितान्त सुखरूप मानते हैं। इन लोगों ने करुण रस को भी सर्वथा सुखात्मक माना है—

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम् ।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ॥
किञ्च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात् तदुन्मुखः ।
तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता ॥ (सा० दण्ड) ॥

भाव का लक्षण—

भवन्तीति या भावयन्तीति भावाः दो प्रकार से भाव की व्युत्पत्ति हो सकती है।

मम्मट ने इसका लक्षण किया है—

रतिर्देवादि विषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः ॥३५॥

भावः प्रोक्तः ।

देवादि विषयक रति तथा प्राधान्येन अभिव्यक्त व्यभिचारी (३३) भाव कहलाते हैं।

उदाहरण—

हरत्यघं सम्प्रति हेतुरेष्यतः शुभस्य पूर्वा चरितैः कृतं शुभैः ।
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥

नारद जी के आने पर श्रीकृष्ण उनका स्वागत करते हुए कह रहे हैं—

आपका दर्शन प्राणियों की "वर्तमान, भूत, भविष्यत्" तीनों कालों में योग्यता को प्रकट करता है। क्योंकि वर्तमान काल में पाप का नाश करता है, भविष्य में प्राप्त होने वाले कल्याण का कारण बनता है, और पूर्व के पुण्य से प्राप्त होता है।

यहाँ श्रीकृष्ण निष्ठ मुनि विषयक रति होने से भाव ध्वनि है।

इसी प्रकार गुरु राजा, पुत्रादि विषयक रति भी भाव ही होते हैं।

यही रस और भावों का यदि अनुचित वर्णन किया जाए तो क्रमशः रसाभास व भासाभास कहलाते हैं।

प्राधान्येन अभिव्यक्त व्यभिचारिभावों में यदि अन्य पदार्थ से यदि किसी भाव की निवृत्ति हो जाय तो वहाँ भाव की शान्ति होती है।

उसी प्रकार अन्य भाव के अपसरण परस्पर प्रधान भाव का जहाँ उदय होता है उसे भावोदय कहते हैं। अभिव्यक्त दो भावों के सम्मिलन में भावसन्धि होती है। अभिव्यक्ति बहुत से भावों के समुदाय को भावशबलता कहते हैं।

रस अथ अलंकार—

मुख्य रस के विद्यमान रहने पर भी कभी कभी ये भाव शान्त्यादि भी अङ्गित्व को प्राप्त करते हैं—

ऐसी स्थिति में रसवत् अलङ्कार होता है। **मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन ।**

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि के भेद—

संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि तीन प्रकार का होता है।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य

शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि	अर्थ श० उ० ध्वनि	उभय श० उ० ध्वनि
१	२	३

(१) **शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि—**

प्रधानतया जहाँ शब्द शक्ति के द्वारा वस्तु और अलंकार अभिव्यक्त होय उसे शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि कहते हैं—

शब्दशक्ति के द्वारा वस्तु की अभिव्यक्ति—

चिर जीवों जोरी जुरे क्यों न सनेह गम्भीर।
को घरि ये वृषभानुजा वे हलधर के वीर॥

विहारी का यह दोहा शब्द शक्ति ध्वनि का सुन्दर उदाहरण है। वृषभानुजा और हलधर इन शब्दों के सामर्थ्य से दूसरा अर्थ गाय बैल वाला भी अभिव्यक्त होता है यही इन शब्दों से अभिव्यक्त वस्तु है।

शब्द शक्ति के द्वारा अलंकार ध्वनि अभिव्यक्ति—

निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने॥

विना सामग्री और विना आधार भित्ति के नाना प्रकार के जगत् रूप चित्र का निर्माण करने वाले (अन्यचित्रकारों से विलक्षण) शिरस्थित चन्द्रमा की कला से श्लाघनीय उस शिव को नमस्कार है।

अन्य कलाकार तूलिका रंग आदि सामग्री से ही चित्र तैयार करता है, परन्तु यहाँ भगवान् शिव बिना किसी आधार व बिना किसी सामग्री के ही जगत् रूपी चित्र को उत्पन्न कर देते हैं अतः निरुपादान, "अभित्तौ" इत्यादि शब्दों से शिव का व्यतिरेक अभिव्यक्त होता है।

अतः यहाँ शब्दशक्तिसमुत्थ अलंकारध्वनि है। इस प्रकार संलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य के शब्दशक्तिमूलक भेद दो हुए, और अर्थशक्तिमूलक भेद बारह होते हैं और उभयशक्तिमूलक भेद एक है।

संक्षेप में मुख्य ध्वनि भेद इस प्रकार दिखलाये जा सकते हैं—

- व्यङ्ग्य ध्वनि
  - अविवक्षितवाच्यध्वनि
    - अर्थान्तर सं०वा० ध्वनि — १
    - अत्यन्त ति०वा०ध्वनि — २
  - विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि
    - अ० सं० ल० क्र० व्यं०
      - रसभावादि-१
    - सं० ल० का व्यं०
      - श०श०उ०
        - वस्तु — १
        - २
        - अलंकार — १
      - अ०श०उ० — १२ भेद
      - उभयश० — १

यह अर्थशक्तिमूलक बारह प्रकार का ध्वनि भेद इस प्रकार है—

(१) स्वतः सम्भवी अर्थशक्तिमूलकसंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य—

जिस अर्थ की लोक में भी सत्ता हो उससे अभिव्यक्त व्यङ्ग्य यह चार प्रकार का होगा—

(१) स्वतःसम्भवी—वस्तु से वस्तुध्वनि ।
(२) ,, ,, वस्तु से अलंकारध्वनि ।
(३) ,, ,, अलंकार से अलंकारध्वनि ।
(४) स्वतः सम्भवी अलंकार से वस्तुध्वनि ।

(२) **कविप्राढोक्तिसिद्ध**—अर्थात् जिसकी सत्ता केवल कवि की ही दुनियाँ में हो । यह भी चार प्रकार का होता है ।

(१) कविप्रोढोक्ति वस्तु से वस्तुध्वनि ।
(२) ,, ,, वस्तु से अलंकारध्वनि ।
(३) ,, ,, अलंकार से अलंकारध्वनि ।
(४) ,, ,, अलंकार से वस्तुध्वनि ।

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति—जहाँ कवि के द्वारा निबद्ध वक्ता से कोई बात कही गई हो । यह भी चार प्रकार का है ।

(१) कविनिबद्ध वक्तृ प्रौढोक्ति—वस्तु से वस्तुध्वनि ।
(२) ,, ,, ,, वस्तु से अलंकारध्वनि ।
(३) ,, ,, ,, अलंकार से अलंकारध्वनि ।
(४) ,, ,, ,, अलंकार से वस्तुध्वनि ।

इस प्रकार अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य बारह प्रकार का होता है, और शब्दार्थोभयशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य एक ही प्रकार का होता है—

उदाहरण—

अतन्द्रचन्द्राभरणा समुद्दीपितमन्मथा ।
तारकातरला श्यामा सानन्दं न करोति कम् ॥१५॥

चमकते हुए चन्द्रमा से विभूषित, काम को समुद्दीपित करने वाली तारिकाओं से तरल श्यामा किसको आनन्दित नहीं करती है ।' यहाँ पूर्वार्ध के विशेषण आनन्द चन्द्राभरणा, समुद्दीपितमन्मथा ये परिवृत्तिसह होने से अर्थशक्तिमूलका हैं, और तारकातरल श्यामा ये परिवृत्यह होने से शब्दशक्तिमूलक हैं। अतः उभयशक्तिमूलक यह संलक्ष्यक्रमध्वनि भेद है ।

यहाँ यह श्यामा रात्रि श्यामा षोडशवर्षीया बाला के समान है यह अर्थ व्यङ्ग्य है ।

इस प्रकार सब मिलाकर ध्वनि के अठारह भेद हुए।

अष्टादशध्वनि का विस्तार—५१ भेद।

अविवक्षित वाच्यध्वनि—{अर्थान्तर सं० वाच्य—पदगत-वाक्यगत-२
अत्यन्ततिर० वाच्य—पदगत-वाक्यगत-२

विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनि—{असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य—रस पदगत, वाक्यगत, पदांशगत, रचनागत, वर्णगत, प्रबन्धगत=६

विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनि—{शब्दशक्त्युद्भव—वस्तु व अलंकार=पदगत वाक्यगत=४, अर्थशक्त्युद्भव के १२ भेद पद वाक्य प्रबन्धगत=३६,

उभयशक्त्युद्भव=१— — १

इन एक्यावन भेदों के परस्पर संसृष्टि होने से = ५१

५१×५१=२६०१ हो जायेंगे।

तीन प्रकार के संकर तथा एक प्रकार की संसृष्टि=चार प्रकार से फिर गुणन करने पर १०४०४ संख्या होगी। पुनः शुद्ध ५१ भेद जोड़ देने से=१०४५५ध्वनि भेद हुए।

यथा—पदद्योत्य अर्थान्तर संक्रमित वाच्यध्वनि का उदाहरण हिन्दी में—

राधा अतिगुन आगरी स्वर्न बरन तनु रंग।
मोहन तू मोहन भयो परसत जाके अङ्ग ॥१॥

यहाँ पहला मोहन शब्द कृष्ण का वाचक है, पर दूसरा मोहन शब्द सबको मोहित करने की सामर्थ्य आदि से युक्त मोहन का बोधक है। अतः अर्थान्तर में संक्रमित हो जाने से यह पदद्योत्य अर्थान्तर संक्रमित वाच्यध्वनि का उदाहरण है। इसी प्रकार—

यस्य मित्राणि मित्राणि शत्रवः शत्रवस्तथा।
अनुकम्प्योऽनुकम्प्यश्च स जातः स च जीवति ॥२॥

यहाँ द्वितीय मित्रादि शब्द अश्वस्त, नियन्त्रणीयत्व, स्नेहपात्रत्वादि अर्थों में ..क्रमित हो जाने से यह भी पद प्रकाश्य अर्थान्तर संक्रमित वाच्यध्वनि का भेद है।

॥ काव्यप्रकाश में ध्वनिनिरूपण नामक चतुर्थ उल्लास ॥

पञ्चम उल्लास

गुणीभूत व्यङ्ग्य के भेद (मध्यमकाव्य)—

ध्वनिकाव्य तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्यों का भेद सहृदयों के अनुभव के आधार पर किया जाता है। सहृदयमात्र संवेद्य व्यङ्ग्य होने पर ही ध्वनि-काव्य कहलाता है। सहृदय से भिन्न सामान्य व्यक्ति भी जिस व्यङ्ग्य को अनायास ग्रहण कर ले वह अत्यन्त स्पष्ट होने के कारण वाच्यार्थ के समान ही हो जाता है, कहीं-कहीं व्यङ्ग्य का चमत्कार वाच्य की अपेक्षा मन्द पड़ जाता है। ऐसी दशा में जहाँ व्यङ्ग्य अगूढ स्पष्ट वाच्यवत् रहे, या वाच्य से न्यून रहे, अथवा व्यङ्ग्य की प्रतीति सहृदयों को सरलता से न हो सके इन सभी दशाओं में गुणीभूत व्यङ्ग्य मध्यम काव्य ही होता है।

इस प्रकार गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य आठ प्रकार का होता है—

अगूढमपरस्याङ्गं वाच्य सिद्ध्यङ्गमस्फुटम् ।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तंमसुन्दरम् ॥४५॥
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः ॥

(१) अगूढ व्यङ्ग्यम्, (२) अपरस्य—दूसरे का अङ्ग व्यङ्ग्य, (३) वाच्यसिद्धि का अङ्गभूत व्यङ्ग्य, (४) अस्फुट व्यङ्ग्य, (५) सन्दिग्धप्राधान्यव्यङ्ग्य, (६) तुल्यप्राधान्य व्यङ्ग्य, (७) काकु से आक्षिप्त व्यङ्ग्य, (८) असुन्दर व्यङ्ग्य।

(१) **अगूढ व्यङ्ग्यम्—असहृदयैरपि झटिति संवेद्यम्**=अत्यन्त स्पष्ट होने से असहृदयों को भी वाच्यवत् प्रतीत हो।

(२) **अपराङ्ग व्यङ्ग्यम्—अपरस्य रसादेर्वाच्यस्य वा अङ्गम्**—ऐसा व्यङ्ग्य जो रस भाव रसाभास भावाभासादि का या वाच्य का भी अङ्ग साधक उपकारक हो।

(३) **वाच्यसिद्ध्यङ्ग व्यङ्ग्यम्—वाच्यसिद्धेरङ्गं निदानं वाच्यस्य सिद्धिरेव यदधीना तदिति यावत्**—अर्थात् ऐसा व्यङ्ग्य जिसके अधीन वाच्यार्थ की सिद्धि हो, जिसकी सहायता के बिना वाच्यार्थ ही सम्पन्न न हो, व्यङ्ग्यार्थ सापेक्ष वाच्यार्थ !

(४) **अस्फुटव्यङ्ग्यम्—सहृदयानामपि दुःखसंवेद्यम्**, जिसका समझना सहृदयों के लिए भी कठिन है, ऐसा व्यङ्ग्य।

(५) सन्दिग्ध प्राधान्यव्यङ्ग्यम्—सन्दिग्धं चमत्कारजनने वाच्यव्यङ्ग्योः सन्देहविषयभूतं प्राधान्यं यत्र तत्। वाच्य और व्यङ्ग्य के चमत्कार की प्रधानता में जहाँ सन्देह हो।

(६) तुल्यप्राधान्यव्यङ्ग्यम्—तुल्यमर्थाद् वाच्येन तुल्यं प्राधान्यं यत्र तत्। जहाँ वाच्य का व व्यङ्ग्य का चमत्कार बराबर रहे।

(७) काक्वाक्षिप्तं व्यङ्ग्यम्—काकुर्ध्वनेर्विकारः, तया आक्षिप्तं झटिति प्रकाशितम्, यया काक्वा विना वाच्यार्थ एव नात्मानंलभते तया प्रकाश्यमिति।

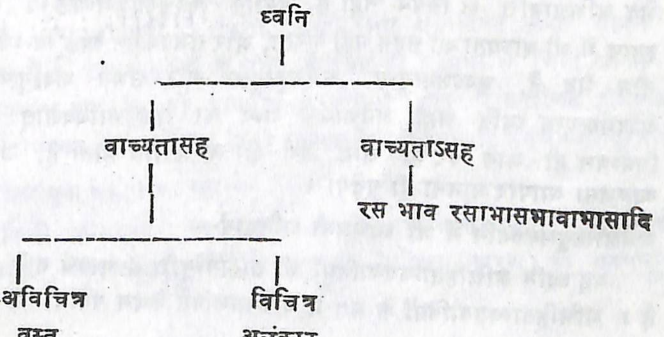
जिस काकु के बिना वाच्यार्थ ही सङ्गत न हो।

(८) असुन्दरं व्यङ्ग्यम्—स्वभावादेव वाच्यापेक्षयाऽचारु। वाच्य की अपेक्षा जिस व्यङ्ग्य का चमत्कार सुन्दर न हो।

गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के मुख्य भेद ये ही हैं। ध्वनि के भेदों की तरह इस गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य की भी संकर व संसृष्टि के द्वारा गणना करने से भेद संख्या बहुत अधिक हो सकती है। प्रकृत में उसका कोई अधिक उपयोग नहीं है। अतः निरर्थक गणना का परिश्रम नहीं करना है। यदि कहीं वस्तु से अलङ्कार की अभिव्यञ्जना हो तो ऐसा काव्यभेद, गुणीभूत व्यङ्ग्य का न होकर ध्वनि का होगा। यह आनन्दवर्धनाचार्य का मत है—

व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदाऽलङ्कृतयस्तदा।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गतां तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्॥

संक्षेप में व्यङ्ग्य तीन प्रकार का होता है—रसध्वनि, वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि। इसमें रसादि रूप व्यङ्ग्य वाच्यता को सहन नहीं करता। अन्य वस्तुरूप और अलंकार रूप व्यङ्ग्य, कभी-कभी अन्य दशा में वाच्य भी हो सकता है।



व्यञ्जना की स्थापना—

अभिधा व लक्षणा की चर्चा तो अन्य शास्त्रों में भी यत्र तत्र होती ही रहती है। प्राय: शास्त्रीय चर्चा में सर्वत्र अपने अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए अभिधा वृत्ति का आश्रय लिया जाता है। कहीं-कहीं अत्यावश्य प्रमेय के प्रतिपादन के लिए, यदि अभिधावृत्ति विवक्षित तात्पर्य को समझाने के लिए समर्थ न हो तो वहाँ लक्षणा वृत्ति का भी आश्रय लिया जाता है।

इन्हीं प्रसिद्ध या अप्रसिद्ध वृत्तियों की परिधि में शास्त्र चर्चा चलती है, परन्तु साहित्यशास्त्र में तो केवल अभिधा या लक्षणा वृत्ति से ही काम नहीं चलता है। साहित्यिक गोष्ठी या कवि गोष्ठी में तो इन वृत्तियों को उतना सम्मान नहीं दिया जाता है, जितना कि व्यञ्जना वृत्ति का सम्मान है, जहाँ न गतासि का अर्थ अवश्यमेव गतासि हो जाता है, भ्रम का अर्थ मा भ्रम हो जाता है, अर्थात्—विधि का निषेध में पर्यवसान और निषेध का विधि में पर्यवसान हो जाता है, ऐसे स्थलों में बेचारी इस प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध वृत्तियों की पहुँच ही कहाँ।

जहाँ व्यङ्ग्य वस्तु के ही विषय में, (जोकि ध्वनि का स्थूल भेद है, साथ ही साथ दशाविशेष में वाच्यतासह भी है,) ही यह बात है, वहाँ वाच्य वृत्ति से जो अत्यन्त दूर रसभावादिध्वनि है, उसके विषय में तो कहना ही क्या, रसादिध्वनि तो स्वप्न में भी वाच्य नहीं है, फिर उस रसादि लक्षण अर्थ का बोधन कराने में अभिधादि वृत्तियाँ कहाँ तक समर्थ हो सकती हैं। अत: रसादि अर्थ के बोध के लिए अभिधा लक्षणा से अतिरिक्त व्यञ्जना को अवश्य मानना चाहिए जैसा कि विश्वनाथ कविराज का कहना है—

"वृत्तीनां विश्रान्तेरभिधा तात्पर्यलक्षणाख्यानाम्।
अङ्गीकार्या तुर्यावृत्तिर्बोधे रसादीनाम् ॥१॥

शब्दशक्तिमूलक-ध्वनि, अभिधा से गतार्थ नहीं हैं—अभिधामूला व्यञ्जना के जो दो भेद हैं असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ये दोनों भेद अभिधावृत्ति के विषय नहीं हैं, क्योंकि असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि तो स्वप्न में भी वाच्यता को सहन नहीं करता, और संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य-ध्वनि के जो तीन भेद हैं, शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ और उभय शक्त्युत्थ, इसमें शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि जहां अनेकार्थक शब्द का प्रकरणादिवशात् एकार्थ में नियन्त्रण हो जाने पर भी अन्य अर्थ की जो प्रतीति होती है, उसके लिए व्यञ्जना व्यापार मानना ही पड़ेगा।

अर्थशक्तिमूलकध्वनि में भी व्यञ्जना अनिवार्य—

यह ध्वनि अभिहितान्वयवादियों की तात्पर्यावृत्ति से गतार्थ नहीं हो सकती है। अभिहितान्वयवादियों के मत में अभिधाशक्ति केवल पदार्थों की उपस्थिति

कराती है। पदार्थों के परस्पर संसर्गरूप वाक्यार्थ की प्रतीति के लिए एक तात्पर्या नाम की वृत्ति माननी पड़ती है। जब वाक्यार्थ ज्ञान के लिए ही अलग से तात्पर्या नाम की वृत्ति माननी पड़ती है, तो वाक्यार्थ के बाद में प्रतीत होने वाले व्यङ्ग्यार्थ के लिए तो अवश्य ही व्यञ्जना वृत्ति माननी पड़ेगी। अर्थात् जाति में संकेतग्रह होने से सामान्यरूप पदार्थों का परस्पर संसर्गरूप विशेष, जहाँ पदों से उपस्थित न होकर "आकाङ्क्षा योग्यता सन्निधि रूप तात्पर्यावृत्ति से उपस्थित होता है, वहाँ वाक्यार्थ बोध के बाद में उपस्थित होने वाले व्यङ्ग्यार्थ की तो बात ही क्या ?

अन्विताभिधानवाद में भी व्यञ्जना आवश्यक—

अन्विताभिधानवादी प्रभाकर आदि जो संकेतग्रह का प्रधान साधन व्यवहार को मानते हैं, क्योंकि उत्तम मध्यमादि वृद्धों के "गामानय" इत्यादि वाक्यों के व्यवहार से ही सर्वप्रथम बालक को संकेत ज्ञान होता है।

इनके मत में "गां, अश्वं" ये पद विशेष होते हुए भी दोनों में रहने वाले सामान्य "कर्मत्व" रूप से ही "आनय" के साथ अन्वित होते हैं। यह उनका सामान्य विशेष हुआ, पर गोत्व और अश्वत्व या गो और अश्व आदि अति विशेष हैं। यह अति विशेषरूप अर्थ भी वाक्यार्थ में प्रतीत होता है, पर इसमें संकेतग्रह नहीं होता, क्योंकि व्यक्ति में सङ्केतग्रह करने से आनन्त्य और व्यभिचार दोष आता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि इनके मत में यहाँ तीन चीजें हैं— (१) सामान्य=गाम्—अश्वम् आदि सामान्यरूप से अन्वितत्वमात्र, (२) सामान्यविशेष का अर्थ है, कर्मत्वादिरूप से अन्वितत्व "गामानय" इत्यादि। (३) अतिविशेष का अर्थ है, गो अश्वादि व्यक्ति विशेष के साथ अन्वितत्व।

अन्विताभिधानवादी के मत में अन्वित में शक्ति मानने से अन्वित वाक्यार्थ के भासित होने पर भी "अतिविशेष अर्थ" (व्यक्तिविशेष) असंकेतित होने के कारण वाच्यार्थ नहीं हो सकता, उसके लिए अतिरिक्त शक्ति मानने की जरूरत है। जब वाक्यार्थ के बोध के लिए ही अभिधा से भिन्न शक्ति की आवश्यकता होती है, तो वाक्यार्थ के बोध के बाद में उपस्थित होने वाले व्यङ्ग्यार्थ का बोध अभिधा से हो सकेगा ऐसा कहना तो सर्वथा असङ्गत है।

मीमांसक एक देशीय का मत—

किसी मीमांसक का कहना है कि **"नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते"** नैमित्तिक (कार्य) के अनुसार निमित्त (कारण) की कल्पना की

जाती है। अतः व्यङ्ग्यार्थ जो नैमित्तिक (या कार्य) है, वह किसी न किसी शब्द से ही प्रतीत होता है, अतः शब्द को ही उस प्रतीति में निमित्त मानना पड़ेगा और निमित्त दो ही प्रकार का होता है—कारक और ज्ञापक।

व्यङ्ग्यार्थ के प्रति शब्द का निमित्तत्व कारकत्वरूप नहीं हो सकता है अपितु ज्ञापकत्व या बोधकत्वरूप ही होगा। व्यङ्ग्यार्थ के साथ इसका बोध्यबोधकभाव सम्बन्ध या निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध रहेगा, यह बोध्यबोधक-सम्बन्ध अभिधाशक्ति ही है, क्योंकि शब्द से अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति अभिधा ही है। जब अभिधा व्यापार से ही व्यङ्ग्यार्थ का बोध हो जाता है तो फिर अतिरिक्त व्यञ्जनावृत्ति को मानने की क्या आवश्यकता है।

व्यञ्जनावादी की तरफ से उत्तर—

आपके मतानुसार शब्द से जो व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है, इसमें शब्द केवल ज्ञापकत्व निमित्तत्व है, परन्तु यह ज्ञापकत्वरूपनिमित्त शब्द तब बन सकता है, जब उस अर्थ में उस शब्द का सङ्केतग्रह हो।

आपके सिद्धान्तानुसार सङ्केत केवल सामान्यरूप से अन्वितमात्र में ही गृहीत होता है। विशेष में सङ्केतग्रह नहीं होता, इसलिए निमित्तरूप शब्द का जब तक व्यङ्ग्यरूप विशेष अर्थ के साथ निश्चितरूप से सम्बन्ध या संकेतग्रह न हो तब तक अभिधा से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति ही कैसे हो सकती है।

क्योंकि कहीं भी व्यंग्यार्थ में संकेतग्रहण नहीं है। इसलिए निश्चित संकेतग्रह के अभाव में **"नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते"** यह कथन भी अविवेकपूर्ण है।

भट्टलोल्लट का पूर्वपक्ष—

भट्टलोल्लट भी मीमांसानुयायी हैं, वे भी व्यंजना वृत्ति को नहीं मानते। उनके मत में व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति अभिधाव्यापार से ही हो जाती है, इस पर इन्होंने एक बाण का दृष्टान्त दिया है **"सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधा-व्यापारः"** यह अभिधाव्यापार भी बाण की तरह दीर्घ दीर्घतर होता जाता है। जैसे किसी बलवान के द्वारा प्रयुक्त एक ही बाण शत्रु का वर्म भेदन, चर्म भेदन तथा मर्म भेदन कर देता है, अभीप्सित कार्य करने तक बीच में विश्राम नहीं करता है, इसी प्रकार एक ही अभिधा व्यापार पदार्थोपस्थिति, अन्वय बोध व व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति भी करा सकता है। जहां तक वक्ता का तात्पर्य हो वह सब अभिधा वृत्ति द्वारा ही बोधित हो जाता है, और यह तात्पर्य अभिधेय तक ही सीमित रहे यह बात भी नहीं।

आचार्य धनिक की भी यही सम्मति है, कि तात्पर्य कोई तराजू से तोली हुई चीज नहीं है, अपितु जहां वक्ता को अर्थ की जरूरत रहती है, वहां तक उन शब्दों का तात्पर्य समझा जाय।

तात्पर्यं व्यतिरेकाच्च व्यञ्जकत्वस्य न ध्वनिः ।
यावत् कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुला धृतम् ।। इति ।।

क्योंकि जिस अर्थ में जिस शब्द का तात्पर्य रहता है, वही उस शब्द का अर्थ है कहा भी है "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" इति । अतः "निश्शेषच्युतचन्दनमिति" इत्यादि शब्दों का "नायकान्तिकगमनरूप" जो विधि है, वह तात्पर्य विषय होने के कारण वाच्य ही हैं न कि व्यङ्ग्य ।

व्यञ्जनावादी का समाधान—

पूर्वपक्षी ने "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" इस वैदिक वाक्य का तात्पर्य जो यह निकाला है कि लक्ष्य व्यङ्ग्य आदि सभी अर्थों को वाच्यार्थ ही मान लेना चाहिए, वस्तुतः वह मीमांसा शास्त्र के नियमों के अनुसार उक्त वाक्य के तात्पर्य का अनभिज्ञ ही है, क्योंकि उक्त वाक्य—"यत् परः शब्दः स शब्दार्थः" इस न्याय का अर्थ मीमांसकों ने इस प्रकार किया है—

"अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इत्यादि वैदिक वाक्यों में कहीं केवल होम क्रिया का विधान होता है, कहीं 'दध्ना जुहोति' जैसे वाक्यों में होम के पूर्व वाक्य से प्राप्त होने के कारण केवल दधिरूप साधनद्रव्य का विधान अभिप्रेत होता है, कहीं "सोमेन यजेत" जैसे वाक्यों में सोम और याग दोनों के अप्राप्त होने से दोनों का विधान अभिप्रेत होता है ।

इस प्रकार वैदिक विधिवाक्यों में जहां जितना अंश प्रमाणान्तर से अप्राप्त होता है, उतने अंश का विधान अभिप्रेत होता है, जैसे अग्नि अदग्ध का ही दहन करता है, उसी प्रकार वैदिक वाक्य या विधिवाक्य भी अप्राप्त का ही विधान करते हैं । ऐसी स्थिति में जिस अप्राप्त अंश के बोधन में विधि वाक्य का तात्पर्य होता है, वही उस विधिवाक्य का विधेय या तात्पर्य अथवा प्रतिपाद्य होता है यही "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" का अर्थ है ।

लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ सब शब्द का वाच्यार्थ ही होता है, यह अर्थ "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" इस वाक्य का कदापि नहीं है । यदि यही अर्थ इस वाक्य का होता तो कुमारिलभट्ट आदि मीमांसक भी लक्षणावृत्ति को क्यों मानते, अतः भट्टलोल्लटादि जो मीमांसक इस तात्पर्य वाचोयुक्ति के द्वारा व्यङ्ग्यार्थ को वाच्यार्थ ही सिद्ध करना चाहते हैं, वे उस वाक्य का वास्तविक अर्थ ही नहीं समझते हैं, स्वयं अपने शास्त्र के अर्थ को न समझने के कारण मम्मट ने इनको 'देवानां प्रियः' (मूर्ख) कहा ।

उक्त "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" इस वाक्य का अभिप्राय ग्रन्थकार इस प्रकार समझाते हैं—

"भूतं भव्याय उपदिश्यते" भूत का अर्थ है सिद्ध कारकादि पदार्थ। भव्य का अर्थ है साध्य क्रियारूप। इन दोनों का जहां सहोच्चारण हो वहां भूत सिद्ध का भव्य साध्य के लिए उपदेश होता है। अर्थात् सिद्ध-भूत भव्य साध्य के अङ्गरूप में उपदिष्ट होता है, क्योंकि **"आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्"** इस नियम के अनुसार वेद के क्रियापरक विधि निषेध परक होने से अक्रिया स्वरूप जो सिद्ध भाग है वह क्रियारूप साध्य का अंश बन जाता है, अतः क्रियारूप विधि अंश की ही प्रधानता रहती है।

यही 'भूतं भव्याय उपदिश्यते' इस वाक्य का अर्थ है। जैसे **"लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति"**—यह वाक्य श्येन याग के प्रकरण में आया है, श्येन याग एक विकृति याग माना जाता है, ज्योतिष्टोम याग इसका प्रकृति याग है, **"यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः"** इसी को प्रधान याग कहते हैं। प्रकृति याग के साथ अनेक विकृति याग भी वर्णित होते हैं। इन विकृति यागों में विशेष नवीन अङ्गों का ही वर्णन होता है, **"प्रकृतिवत् विकृतिः कर्तव्या"** इस नियम के अनुसार शेष सारी विधियां प्रकृति की तरह की जाती हैं।

ज्योतिष्टोमरूप प्रकृति याग में **"सोष्णीषा विनीतवसना ऋत्विजः प्रचरन्ति"** इस वाक्य के द्वारा ऋत्विक्-प्रचरण का विधान किया हुआ है, श्येन याग में **"प्रकृतिवत् विकृतिः कर्तव्या"** इस नियम के अनुसार यहां ऋत्विक् प्रचरण स्वयं प्राप्त है, न तो यहां उष्णीष का विधान है और न ही प्रचरण का विधान है ये तो सब ज्योतिष्टोम वाले वाक्य से प्राप्त ही हैं। केवल यहां उष्णीष के लौहित्य (लालरङ्ग) का विधान अभिप्रेत है। इतना ही इस वाक्य का अर्थ है, अतः **"यत्परः शब्दः स शब्दार्थः"** यह वाक्य इसी अर्थ को सूचित करता है।

इसी प्रकार **"दध्ना जुहोति"** इत्यादि वाक्य में भी दधि-द्रव्य है, द्रव्य सिद्ध होता है, साध्य नहीं, पर कभी कभी यह भी साध्य की तरह प्रतीत होता है।

अङ्गरूप से विधान किये गये इस सिद्ध पदार्थ का भी प्रधान क्रिया से सम्बन्ध होने से साध्य की तरह प्रतीति होती है, प्रकृत में हवन का अन्य प्रभाव से विधान हो जाने से केवल दधि का करणत्वमात्र से विधान किया गया है। इसी प्रकार कहीं दो या तीन पदार्थों का भी विधान होता है, कहने का तात्पर्य यह है कि जिसका विधान किया जाता है, उसी में शब्द का तात्पर्य रहता है, और जो शब्द वाक्य में आये हैं उन्हीं उपात्त शब्दों में ही किसी के अर्थ में वाक्य का तात्पर्य रहता है।

मीमांसक की ओर से पुनः शङ्का—

मीमांसक पुनः आशङ्का करता है कि यदि वाक्यान्तर्गत उपात्त शब्दों के अर्थ में ही यदि वाक्य का तात्पर्य है तो फिर **"विषं भक्षय मा चास्य गृहे**

भुङ्क्था:"—"विष खा ले, पर इसके घर भोजन मतकर" अर्थात् इसके घर का भोजन विष से भी भयंकर है, अतः नहीं खाना चाहिए यह तात्पर्य उपात्त शब्दों में नहीं हैं, आपने कैसे कह दिया कि वाक्य में उपात्त शब्दों में ही तात्पर्य रहता है।

व्यञ्जनावादी का समाधान—

यहाँ "विषं भक्षय" इत्यादि वाक्य को यदि अलग-अलग वाक्य माना जाय तो इस वाक्य का अर्थ असङ्गत हो जायेगा क्योंकि यह किसी मित्र का वाक्य है, कोई मित्र अपने मित्र को विष खाने की सलाह नहीं देगा, इसलिए विषभक्षण का आदेश देने वाला यह वाक्य स्वयं में अपूर्ण है, इसलिए "मा चास्य गृहे भुङ्क्था:" इस दूसरे वाक्य के साथ सम्बन्ध मानना आवश्यक है, अतः विषभक्षण वाक्य स्वयं अनुपपन्न होने के कारण दूसरे वाक्य का अङ्ग बन जाता है, और अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध होने से दोनों की एकवाक्यता हो जाती है। एक वाक्यता हो जाने पर उपात्त शब्द में ही तात्पर्य आ जाता है, अतः 'उपात्तस्यैव शब्दास्यार्थे तात्पर्यम्' इस नियम की सङ्गति हो जाती है।

यदि यह कहा जाय कि शब्द श्रवण के बाद जितने भी अर्थ की प्रतीति होती है वह सब अभिधा व्यापार का ही विषय है, तो किन्हीं वाक्यों के श्रवणानन्तर मुखादि का विकास व सङ्कोच होता है, वह भी अभिधा व्यापार का ही विषय क्यों नहीं माना जाता है, क्यों वह अनुमान का विषय माना जाता है। फिर दीर्घदीर्घतर अभिधाव्यापार से ही सारे अर्थों की सिद्धि हो जाने पर, लक्षणा व्यापार की भी क्या आवश्यकता है, जिसको आपने भी स्वीकार किया है। और आपके मीमांसादर्शन में माने हुए "श्रुति लिङ्ग वाक्य प्रकरण स्थान समाख्या" इन छः प्रमाणों की पूर्वपूर्व की बलवत्ता क्यों मानी जाती है ? अर्थात् यदि शब्द श्रवण के बाद प्रतीत होने वाले सभी अर्थों की प्रतीति अभिधा से ही हो जाती है तो न लक्षणा की आवश्यकता है, और न श्रुति आदि प्रमाणों की प्रबलता-दुर्बलता का निश्चय ही हो सकता है। इसीलिए अन्विताभिधान वाद में भी **निःशेषच्युतचन्दनम्** इत्यादि स्थलों में निषेधरूप वाच्यार्थ से प्रतीति होने वाले विधि की व्यङ्ग्यता सिद्ध होती है।

नित्यानित्य दोष की व्यवस्था के लिए भी व्यञ्जना-वृति आवश्यक है।

वाच्यवाचक भाव से भिन्न व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव यदि नहीं माना जाय तो असाधुपदत्व (च्युतसंस्कारत्व) आदि नित्य दोषों का, और कष्टत्व (श्रुतिकटुत्व) आदि अनित्य दोषों का विभाग भी नहीं बन सकता है।

वाच्यवाचक भाव से पृथक् व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव को स्वीकार करने पर तो व्यङ्ग्य के अनेक प्रकार होने से कहीं किसी के औचित्य के कारण (अर्थात् श्रुतिकट्त्वादि की क्वचित् शृङ्गारादि रसों में ही वर्जनीयता रहेगी, अन्यत्र तो उनकी उपादेयता होगी) विभाग व्यवस्था बन ही जाती है। इसा लिए व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव को मानना ही चाहिए।

गुणों की व्यवस्था के लिए भी व्यञ्जना जरूरी—

यदि व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव न माना जाय तो कुमारसम्भव में आये हुए **"समागम प्रार्थनया कपालिनः"** इस पद्य में शिव के वाचक पिनाकीन, आदि पदों की अपेक्षा कपाली आदि पदों का काव्यानुगुणत्व तथा अभिमतरसाभिव्यञ्जकत्व कैसे माना जा सकता है।

महाकवि कालिदास निर्मित कुमारसम्भव का यह पद्य इस प्रकार है—

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी।

इस पद्य में शिव की प्राप्ति के लिए तपस्या करने वाली पार्वती के परीक्षा करनें के लिए ब्रह्मचारी का वेष धारण करके आए हुए शिव जी, पार्वती की शिव-समागम की इच्छा का उपहास करते हुए कह रहे हैं, पहिले अकेली चन्द्र-कला ही शोचनीय थी, अब तुम दोनों की दशा शोचनीय हो गयी है। यहाँ कवि ने शिव के वाचक पिनाकी आदि शब्दों को छोड़कर "कपाली" शब्द का ही विशेष रूप से जो प्रयोग किया है, उससे जिन दरिद्रता, वीभत्सता आदि अनेक गुणों का वैशिष्ट्य प्रतीत होता है, वह शिवजी के वाचक "पिनाकी" आदि शब्दों से व्यक्त नहीं होता है। उसी के आधार पर शोचनीयता का औचित्य व्यक्त होता है। यदि व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव नहीं माना जाएगा तो वाचक रूप से सभी शब्दों का समान स्थान होने से विशेष पद के प्रयोग में कोई विलक्षण चमत्कार नहीं होगा। इसलिए वाच्यवाचक भाव से भिन्न व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव अवश्य मानना चाहिए।

वाच्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में भी महान् अन्तर—

वाच्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में संख्या, स्वरूप, काल, आश्रय, निमित्त, व्यपदेश, कार्य तथा विषय आदि के भेद होने से भी व्यङ्ग्यार्थ को वाच्यार्थ से भिन्न मानना आवश्यक है। साहित्यदर्पणकार ने इन भेदों का संग्रह इस प्रकार किया है—

स्वरूप-संख्या-निमित्त-कार्य-प्रतीति-कालानाम्।
आश्रय विषयादीनां भेदाद् भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः॥

दूसरी बात यह है कि "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" वाला नियम सर्वत्र लागू नहीं हो सकता है, असुन्दर-व्यङ्ग्य नामक गुणीभूत व्यंग्य के भेद में "वानीर कुञ्ज……सीदन्त्यङ्गानि" इत्यादि स्थल में व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होने पर भी वाच्यार्थ चमत्कार युक्त होने के कारण उसी में तात्पर्य का पर्यवसान भी होता है, ऐसे स्थलों में जहाँ व्यङ्ग्यार्थ तात्पर्यविषयीभूत है ही नहीं तो व्यञ्जना व्यापार के न मानने में वह अतात्पर्य विषयीभूत अर्थ किस व्यापार का विषय बनेगा ?

लक्ष्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ में भेद होने से लक्षणा शक्ति से भी व्यञ्जना गतार्थ नहीं हो सकती—

यद्यपि व्यङ्ग्य की ही तरह लक्ष्यार्थ भी अनियत रहता है जैसे—रामोऽस्मि सर्वं सहे; रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णप्रिये नोचितम्; रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धि पराम्, इत्यादि स्थलों में दुःख सहिष्णुत्व, निष्करुण, खरदूषणादिहन्ता इत्यादि एक ही राम शब्द के लक्ष्यार्थ हैं। फिर भी लक्षणीय अर्थ के नाना होने पर भी अनेकार्थक शब्द के वाच्यार्थ के समान नियतरूप ही होता है। इसके विपरीत व्यङ्ग्यार्थ तो प्रकरणादि के द्वारा कहीं नियतसम्बन्ध और कहीं अनियत सम्बन्ध और कहीं परम्परित सम्बन्ध वाला होता है। अतः लक्ष्यार्थ ही व्यङ्ग्यार्थ नहीं होता है और न लक्षणा से व्यञ्जना गतार्थ हो सकती है।

व्यञ्जना का विशेष आदर—

व्यञ्जना के विषय को लेकर ग्रन्थकार का यहाँ तक का सारा संघर्ष मीमांसकों से रहा। उन्हीं के विरोध का उत्तर देते हुए व्यञ्जना की प्रतिष्ठा की परन्तु इतने से उनका कार्य पूर्ण नहीं हुआ, अभी आगे उन्हें वैय्याकरणों, वेदान्तियों तथा नैय्यायिकों का भी सामना करना है। इस उल्लास में व्यञ्जना की प्रतिष्ठा का भगीरथ प्रयत्न ग्रन्थकार का है। व्यञ्जना का चतुर्दिक् विरोध है, साहित्यशास्त्र में भी केवल ध्वनिवादी सम्प्रदाय ही इसे स्वीकार करता है, शेष बड़े बड़े दार्शनिक व साहित्यिक तो इसका विरोध ही करते हैं। मीमांसक, वेदान्ती, नैय्यायिक और वैय्याकरण करीब करीब सभी व्यञ्जना के विरोधी हैं। पर ध्वनिवादी आचार्यों के अनुसार साहित्यशास्त्र की गाड़ी व्यञ्जना के बिना एक पग भी आगे नहीं चल सकती है। इस शास्त्र में तो अभिधा शक्ति की कोई कदर नहीं है। सीधी साधी बात कहना तो एक तरह गवांजीपना है। जिस उक्ति में कोई चमत्कार नहीं, कथन की कोई शैली नहीं या जिसमें कोई रस नहीं ऐसी नीरस शुष्क उक्ति सहृदयों के हृदय को अच्छी नहीं लगती है। मीमांसक नैय्यायिक आदि भले ही नग्न यर्थार्थवाद से सन्तुष्ट हो जायें पर साहित्यशास्त्र के विद्यार्थी को तो उन वाक्यों से कथमपि संन्तोष नहीं होता है। इसीलिए आशाधर भट्ट ने कहा है—

शक्तिं भजन्ति सरला लक्षणां चतुरा नराः ।
व्यञ्जनां नर्ममर्मज्ञाः कवयः कमना जनाः ॥

साहित्यशास्त्र तो रसप्रधान शास्त्र है, रसास्वाद के बिना सहृदय की तृप्ति नहीं होती है, उसी रसाभिव्यक्ति के लिए व्यञ्जना आवश्यक है ।

कवित्व की कसौटी और काव्य का प्राण व्यञ्जना है इसलिए आचार्य मम्मट ने इसकी सिद्धि के लिए इतना आग्रह और इतना प्रयास किया है।

वैय्याकरणों या वेदान्तियों का अखण्डार्थवाद जो (वेदान्ती या वैय्याकरण यह कहते हैं कि अखण्डबुद्धि से ग्राह्य वाक्यार्थ ही वाच्य होता है, और अखण्ड वाक्य ही उसका वाचक होता है। उनको भी अविद्या की स्थिति में (व्यवहार सत्ता में) आकर, पद पदार्थ की कल्पना करनी ही होगी, इसलिए उनके पक्ष में भी उक्त (निःशेषच्युतचन्दनम् इत्यादि) उदाहरण में विधि आदि को व्यङ्ग्य मानना ही होगा।

न्यायाचार्य महिमभट्ट का विरोध—

व्यञ्जनावृत्ति के सबसे कट्टर विरोधी महिमभट्ट हैं जिन्होंने काव्य जगत् में समाहत इस व्यञ्जना वृत्ति की साथ ही साथ व्यञ्जना परिवार के समष्टिभूत ध्वनितत्त्व की कठोर समीक्षा की है। आनन्दवर्धनाचार्य के ध्वनि सिद्धान्त को ध्वंस करने के लिए इस महात्मा ने एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही लिख डाला, जिसका नाम है—"व्यक्तिविवेक" अर्थात्—"व्यञ्जना का विचार" ग्रन्थ के आरम्भ में ही इनकी प्रतिज्ञा भी बड़ी भयंकर है—

अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वने प्रकाशयितुम् ।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम् ॥१॥

सभी प्रकार की ध्वनियों का अनुमान में अन्तर्भाव करने के लिए महिमा नामक आचार्य परा वाणी को प्रणाम कर "व्यक्ति विवेक" नामक ग्रन्थ की रचना करते हैं। कहना नहीं होगा कि बहुत कुछ अंश में इनकी प्रतिज्ञा सफल हुई है, सर्व प्रथम ये ध्वन्यालोक के ध्वनि लक्षण पर टूट पड़े, उनके लक्षण का प्रतिपद खण्डन करके यह दिखाया कि ध्वनि का तो कोई लक्षण ही नहीं बनता, फिर शब्द और अर्थ का सम्बन्ध दिखलाते हुए व्यञ्जनावृत्ति की समीक्षा करने लगे। इनके मत में शब्द और अर्थ का यदि कोई सम्बन्ध है तो वह वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध है बस इसके लिए तो फिर अभिधा से अन्य किसी व्यापार को मानने की आवश्यकता ही नहीं है यदि कहीं उपचार वश कोई व्यङ्ग्यादि अर्थ की प्रतीति होती है तो वह सब अनुमान के द्वारा ही गतार्थ हो जाती है।

इसके लिए अतिरिक्त व्यञ्जनावृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं है। बड़े संरम्भ के साथ इन्होंने अपने ग्रन्थ में अनुमान में ही पूरे ध्वनि प्रपञ्च को सम्हालने का साहसिक प्रयास किया है। इस पर इन्हें पूरा भरोसा है कि मेरे जैसे पण्डित अवश्य मेरी बातों का समादर करेंगे और बड़े गर्व के साथ कहते हैं—

युक्तोऽयमात्मसदृशान् प्रति मे प्रयत्नो।
नास्त्येव तज्जगति सर्वमनोहरं यत्।
केचिज्ज्वलन्ति विकसन्त्यपरे निमीलन्त्य-
न्ये यदभ्युदयभाजि जगत्प्रदीपे ॥२॥

जो मेरे जैसे हैं उन्हीं के लिए यह मेरा प्रयास है, संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो सबका मन आकृष्ट करे, भुवन को प्रकाशित करने वाले भगवान् भास्कर के उदयोन्मुख होने पर कुछ (सूर्यकान्त मणि) जलते हैं, कुछ (कमल) खिलते हैं और कुछ (उल्लू-कमुद आदि) संकुचित हो जाते हैं ॥२॥

व्यक्तिविवेक की प्रौढ़ तथा तर्क कर्कश विचार चातुरी से ध्वनि के सारे अङ्गों को बहुत बड़ी ठेस लगी है इसमें कोई सन्देह नहीं, ध्वन्यालोककार आनन्द वर्धन का वह निर्मल यश शायद कब का खतम हो जाता, यदि एकादश शती के उत्तरभाग में मम्मट जैसे अद्‌भुत् विद्वान् का उदय नहीं होता।

महिमभट्ट का मत मुख्यतः न्यायदर्शन की अनुमान प्रक्रिया पर आधारित है। इसलिए इस मत को हम न्याय मत कह सकते हैं। इनका कथन इस प्रकार है—

वाच्य से असम्बद्ध अर्थ तो प्रतीत नहीं होता है, यदि वाच्य से असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति होती तो, फिर जिस किसी शब्द से जो कोई भी अर्थ प्रतीत होने लगेगा। इस प्रकार जब व्यञ्जक शब्द और व्यङ्ग्य अर्थ का आपस में व्यङ्ग्य व्यञ्जक सम्बन्ध है तो वह सम्बन्ध अवश्य (किसी प्रतिबन्ध) व्याप्ति के बिना नहीं हो सकता है। इसलिए व्याप्तियुक्त और नियत धर्मी (पक्ष) पर्वतादि में रहने से (अर्थात् व्याप्ति तथा पक्षधर्मता युक्त होने से पक्षसत्व, सपक्षसत्व और विपक्ष व्यावृत्तिरूप) तीनों रूपों वाले (धूमादि हेतु के समान) लिङ्ग से, लिङ्गी (अर्थात् वह्नि आदि के समान साध्य) का जो अनुमान किया जाता है, उसी रूप में (व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव का भी) पर्यवसान हो जाता है।

यहाँ "त्रिरुपाल्लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमनुमानम्" यह कहकर, व्याप्ति तथा पक्षधर्मता युक्त एवं त्रिरूप (पक्षसत्व, सपक्षसत्व, विपक्ष व्यावृतत्वरूप) विशिष्ट लिङ्ग से लिङ्गी (साध्य) का जो ज्ञान होता है, वह अनुमान कहलाता है। और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति भी व्याप्ति तथा पक्षधर्मता के बिना नहीं होती, इसी

लिए व्यङ्ग्य प्रतीति अनुमिति ही है, और व्यङ्ग्य व्यञ्जकभाव एक प्रकार का अनुमान ही है—

उदाहरण के द्वारा इसे और स्पष्ट कर रहे हैं—

भ्रम धार्मिक विश्वस्तः स श्वाद्य मारितस्तेन ।
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥

हे पण्डित जी (धार्मिक) अब आप निडर होकर भ्रमण करें, गोदावरी के तीर के कुञ्ज में रहने वाले उस दुष्ट सिंह ने आज उस कुत्ते को (जो आपको तंग किया करता था) मार डाला है।

इस गाथा का प्रकरण इस प्रकार है—गोदावरी नदी के किनारे किसी उद्यान में किसी स्त्री ने अपना निवास स्थान बनाया हुआ था, जहाँ उसका प्रिय उससे मिलने के लिए आता था, कोई दूसरे पण्डित जी अपने पूजापाठ के लिए फूल तोड़ने उसी उद्यान में आया करते थे, इनके आने मे उस स्त्री के कार्य में विघ्न पड़ता था, इसीलिए उसने इस प्रकार का उपाय निकाला कि जिससे पण्डित जी का उधर आना बन्द हो जाय, इसी दृष्टि से उसने इस पद्य द्वारा पण्डित जी को सिंह द्वारा कुत्ते को मारे जाने की सूचना दी, वह जानती है कि पण्डितजी जब कुत्ते से ही बहुत डरते थे तो सिंह का नाम सुनते तो वे यहाँ आना ही भूल जायेंगे।

भ्रम धार्मिक इत्यादि श्लोक में—(गोदावरी तीर स्थित) घर में रहने वाले कुत्त के अभाव में विहित भ्रमण (हेतु या लिङ्ग) गोदावरी तीर पर सिंह के रहने के ज्ञान द्वारा भ्रमण के अभाव (साध्य) का अनुमान कराता है।

जहाँ-जहाँ भीरुओं का भ्रमण होता है, वहाँ-वहाँ भयकारण के अभाव के ज्ञानपूर्वक होता है। यह व्याप्ति है, और गोदावरी के तीर में (भय का कारण) सिंह की उपलब्धि (अर्थात् साधनाभाव) है। इसलिए साध्य भीरुभ्रमण की व्यापिका जो भयकारण के अभाव की उपलब्धि, उसके विरुद्ध जो भय कारण है उसकी उपलब्धि, (अर्थात् अभावसाधक सिंहोपलब्धिरूप) व्यापक विरुद्ध, (व्यतिरेक व्याप्ति) की प्रतीति होती है।

इसलिए व्यतिरेकि अनुमान के द्वारा भ्रमणनिषेध की प्रतीति हो जाती है, उसके लिए व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं है।

इसका अनुमानाकार इस प्रकार बन सकता है—

(१) गोदावरी तीरं भीरुभ्रमणायोग्यम् (प्रतिज्ञा वाक्य)।

(२) भयकारणोपलब्धेः (हेतु या साधन) ।

(३) यद्यत् भीरुभ्रमणयोग्यं तत्तद्भयकारणाभाववत् ।

यथा गृहम्—(व्यतिरेक व्याप्ति उदाहरण सहित) ।

(४) न चेदं तीरं तथा भयकारणाभाववत्, सिंहोपलब्धेः (उपनय वाक्य)

(५) तस्मात् भीरुभ्रमणायोग्यं तीरम् (निगमन) ।

इस प्रकार पञ्चावयव वाक्य से अनुमान द्वारा ही व्यञ्जनावादी के व्यङ्ग्य—मा भ्रम अर्थात् मत घूमो—अर्थात् भ्रमण निषेध को" गतार्थ कर देते हैं।

अतः व्यङ्यार्थ के लिए पृथक् व्यञ्जनावृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं। यह पूर्व पक्ष है—

मम्मट द्वारा महिमभट्ट के इस अनुमान का खण्डन—

यहाँ महिमभट्ट ने "सिंहोपलब्धि" को "भीरुभ्रमणायोग्यत्व" सिद्ध करने के लिए हेतु रूप में प्रस्तुत किया है, किन्तु यह हेतु अनैकान्तिक है। अर्थात् साध्याभाववद्वृत्ति है। जहाँ जहाँ भीरुभ्रमण होता हो, वहाँ वहाँ भय के कारण का अभाव हो, इस प्रकार की कोई व्याप्ति भी नहीं है, क्योंकि युद्धादि में राजाज्ञा से भीरु सैनिक भी भय के कारण के रहते हुए भी जाता ही है, इसी प्रकार प्रभु की आज्ञा से या गुरु की आज्ञा से शिष्य, अथवा प्रिया के अनुराग से भय के कारण रहते हुए भी जाता ही है। इसी बात को समझाते हैं—

भीरु भी प्रभु या गुरु की आज्ञा से अथवा प्रिया के अनुराग से अथवा इसी प्रकार के किसी अन्य कारण से भी भय के कारण रहते हुए भी घूमता ही है। इसलिए यह सिंहोपलब्धिरूप हेतु अनैकान्तिक है। अर्थात्—सव्यभिचार हेत्वाभास है और कुत्ते से डरने पर भी वीर होने से सिंह से नहीं डरता है, इसलिए विरुद्ध हेत्वाभास भी है। (तीसरा दोष यह है कि) गोदावरी के किनारे सिंह का सद्भाव प्रत्यक्ष से तथा अनुमान से निश्चित नहीं है। अपितु वचन से, अर्थ के साथ वचन उस नायिका के शब्द का कोई प्रतिबन्ध नियत सहचार न होने से, वचन का प्रामाण्य भी नहीं है। इसलिए पक्ष में हेतु के न रहने से स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास भी है। इस प्रकार त्रिदोषग्रस्त हेतु से साध्य की सिद्धि किस तरह हो सकती है ?

अर्थात्—अनुमान द्वारा भ्रमण निषेधरूप साध्यव्यंङ्ग्य की सिद्धि नहीं हो सकती है।

इसी प्रकार "निःशेषच्युतचन्दनम्" इत्यादि स्थलों में भी चन्दनच्यवनादि के द्वारा जो अनुमान महिमभट्ट करते हैं, वे अन्य कारणों से भी हो सकते हैं।

अतः अनैकान्तिक हेत्वाभास है, अर्थात् चन्दनच्यवन को अनुमापक मानकर नायकान्तिकगमनादि को अनुमेय नहीं मान सकते हैं। स्नानादि कार्यों से भी चन्दनादि की उपपत्ति हो जाती है।

व्यञ्जनावादी ने तो अधम पद की सहायता से उक्त विधि "नायकान्तिकगमनादि" रूप व्यङ्ग्य माना है, परन्तु अनुमानवादी के यहाँ तो अधमत्व की किसी प्रमाण से सिद्धि न होने के कारण अनुमान नहीं हो सकता है।

व्यञ्जनावादी यहाँ तो व्याप्ति के बिना भी इस प्रकार के अर्थ से इस प्रकार का व्यङ्ग्य अर्थ प्रकाशित होता है। सामान्यरूप से कथन होने से व्यञ्जनावादी के यहाँ यह दोष नहीं है।

पूर्वोक्त विचार को ही मम्मटानुयायी कविराज विश्वनाथ ने इन शब्दों से कहा है—

नानुमानं रसादीनां व्यङ्ग्यानां बोधनक्षमम्।
आभासत्वेन हेतूनां स्मृतिर्न च रसादिधीः ॥९॥

काव्य प्रकाश में व्यञ्जना स्थापन नामक
पञ्चम उल्लास समाप्त

षष्ठ उल्लास

चित्रकाव्य या अवर काव्य का निरूपण—

ध्वनिप्रधान उत्तम काव्य का गुणीभूत व्यङ्ग्य वाले मध्यम काव्य का निरूपण कर अब व्यङ्ग्यार्थरहित चित्रकाव्य या अधम काव्य के भेदों का निरूपण षष्ठ उल्लास में कर रहे हैं।

शब्द चित्र तथा अर्थचित्र के नाम से जो दो प्रकार के (अधम काव्य के) भेद प्रथम उल्लास में दिखलाये गये हैं, उनमें शब्द चित्र और अर्थ चित्र शब्दों का प्रयोग गुण प्रधान भाव से होता है।

अर्थात्—दोनों में दोनों प्रकार की चित्रता की सम्भावना हो सकती है, पर जहाँ जिसकी प्रधानता होती है, उसी के आधार पर व्यवहार होता है। जैसे प्रथम उल्लास में वर्णित शब्द चित्र के उदाहरण **"स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छ"** इत्यादि पद्य में अन्य नदियों से अधिक उत्कर्ष का वर्णन होने से व्यतिरेक अर्थालङ्कार होने से अर्थ चित्रता भी है, और **"विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिरात्"** इत्यादि पद्य में जो अर्थ चित्र का उदाहरण है। मकार की असकृत् आवृत्ति होने से वृत्यनुप्रास शब्दालंकार के होने से शब्द चित्रत्व भी है, पर **"प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति"** इस नियम के अनुसार जहाँ जिसकी प्रधानता है वहाँ उसी से व्यवहार किया जाता है—

> **शब्दार्थचित्रं यत्पूर्वं काव्यद्वयमुदाहृतम् ।**
> **गुणप्राधान्यतस्तत्र स्थितिचित्रार्थशब्दयोः ॥१॥**

शब्द चित्र तथा अर्थ चित्र के विषय में प्राचीन आचार्यों का मत—

किन्हीं आचार्यों का मत है कि रूपकादि अर्थालङ्कार ही प्रधान अलंकार हैं, शब्दालङ्कारों के/या शब्द चित्र में इस प्रकार का चमत्कार नहीं रहता है।

क्योंकि सुन्दर होने पर भी जैसे बिना अलङ्कार के कामिनी का मुख शोभित नहीं होता, उसी प्रकार बिना अर्थालङ्कारों के सुन्दर शब्दों वाला काव्य भी शोभित नहीं होता है।

दूसरे आचार्य रूपकादि अर्थालङ्कारों को बाह्य अलंकार मानते हैं, अर्थात्—सुबन्त और तिङन्त पदों की व्युत्पत्ति (**विशेषेणानुप्रासाविरूपेण**

उत्पत्ति सन्निवेश:) को ही वाणी का वास्तविक अलंकार मानते हैं। क्योंकि काव्य के सुनते ही शब्दालङ्कारों का चमत्कार चित्त को चमत्कृत कर देता है। अत: शब्दालङ्कार ही प्रधान है।

भामह का मत—

भामह का मत है कि काव्य में उभयविध अलङ्कारों का वर्णन होने से उन्हें शब्दालंकार व अर्थालङ्कार दोनों ही इष्ट हैं। यही ग्रन्थकार का भी मत है।

अभिप्राय यह है कि शब्द में स्वरूपत: कोई अलंकार नहीं है, यदि शब्द में स्वरूपत: अलंकार होता तो फिर निरर्थक शब्द में भी अलंकार की प्रसक्ति हो जाती है। इसी प्रकार अर्थ में भी स्वरूपत: कोई अलंकार नहीं है अर्थ के सर्वदा रहने से सालंकृत अर्थ की ही प्रतीति होने लगती, परन्तु शब्द बोधित अर्थ में, और अर्थबोधक शब्द में चित्रता है। अत एव शब्दार्थोभय सम्मिलित काव्यपद वाच्य है। दोनों में परस्परोपकार्योपकारकभाव है। दोनों ही कवि प्रयत्न के विषय होने से शब्दार्थोभय की चित्रता सर्वसम्मत है।

शब्द चित्र का उदाहरण—

प्रथममरुणच्छायस्तावत्तत: कनकप्रभ: ।
तदनु विरहोत्ताम्यत्तन्वीकपोलतलद्युति: ॥
उदयति ततो ध्वान्तध्वंसक्षम: क्षणदामुखे ।
सरसविसिनीकन्दच्छेदच्छविर्मृगलाञ्छन: ।।२।।

(उदय होते समय) चन्द्रमा पहले लाल रङ्ग का, उसके बाद सोने के समान पीत कान्तिवाला, उसके बाद विरहपीड़िता सुन्दरी के कपोल की श्वेत कान्तिवाला, उदय होता है, इसके बाद रात्रि के प्रारम्भ में ताजे मृणालदण्ड के समान अत्यन्त श्वेत कान्तिवाला होकर अन्धकार का नाश करने में समर्थ होता है ।।२।।

इस पद्य में मकार तकार व ककारों की आवृत्ति होने से अनुप्रास शब्दालंकार है।

यद्यपि यहाँ स्वभावोक्ति तथा उपमा के अर्थ चित्र की भी सत्ता है, परन्तु कवि के विवक्षा का विषय शब्दालंकार ही है अत एव उसी की यहाँ प्रधानता है।

अर्थ चित्र का उदाहरण—

ते दृष्टिमात्रपतिता अपि कस्य नात्र
क्षोभाय पक्ष्मलदशामलका: खलाश्च ।।

नीचा सदैव सविलासमलीकलग्ना
ये कालतां कुटिलतामिव न त्यजन्ति ॥३॥

सघन पलकों वाली सुन्दरियों के केश, और दुष्ट पुरुष, जो विलासपूर्वक सदैव अलीक (केशपक्ष में ललाट, खल पक्ष में मिथ्याभाषण) में लगे हुए हैं, और कुटिलता (केशपक्ष में टेढ़ापन और खल पक्ष में दुष्टता) के समान कालेपन को नहीं छोड़ते हैं। देखते ही किसके चित्त में क्षोभ उत्पन्न नहीं कर देते ? अर्थात् कामिनियों के काले और कुन्तल केश और उन्हीं के समान कुटिल वृत्ति वाले दुष्ट पुरुष देखने वालों के हृदय को क्षुब्ध कर देते हैं।

यहाँ क्षोभरूप एक कार्य के प्रति अलक व खल का युगपत् कथन होने से समुच्चयालंकार है। श्लेष तथा उपमा आरम्भ से समाप्तिपर्यन्त इसी समुच्चय के निर्वाहक होने से इसी के अङ्ग हैं। प्रधानता समुच्चयालङ्कार की ही है। काव्यप्रकाश के आदर्श टीका के रचयिता महेश्वर भट्टाचार्य का कथन है कि उक्त पद्य में प्रकृत खल व अप्रकृत अलक का क्षोभरूप एक धर्म के साथ अन्वय होने से दीपकालंकार है।

अलीक शब्द के परिवृत्यसह होने से शब्द श्लेष तथा अनुप्रास का भी सम्भव है, पर अर्थालङ्कार की ही प्रधानता होने से यह अर्थ चित्र का उदाहरण है।

यद्यपि सर्वत्र काव्यों में वर्णित पदार्थ विभावादिरूप पर्यवसित होते हैं, तथापि चित्र काव्य में स्पष्ट रूप से रसादि की प्रतीति न होने से इन दोनों काव्यों को व्यङ्ग्य रहित तथा अधम काव्य कहा गया है।

काव्य प्रकाश में चित्र काव्य प्रभेद निरुपणात्मक
षष्ठ उल्लास समाप्त हुआ।

सप्तम उल्लास

काव्य दोषों का निरूपण—

जैसे दोष की कालिमा किसी व्यक्ति उत्कर्ष में विघातक होती है, उसी प्रकार काव्य-दोष भी काव्यार्थ के मुख्य प्रतीति के उत्कर्ष के विघातक होते हैं।

स्याद् वपुः सुन्दरमपिश्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ॥

किसी कामिनी का शरीर चाहे कितना ही सुन्दर क्यों न हो परन्तु उसके अङ्ग में यदि कुष्ठ का छोटा सा भी दाग है तो वह सौन्दर्य सदा के लिए निरर्थक हो जाता है।

कविता कामिनी का भी यही हाल है कितनी ही सुन्दर कविता क्यों न हो, यदि थोड़ी भी व्याकरण सम्बन्धी त्रुटि दिखाई देती है तो वह सारी कविता फीकी (नीरस) मालुम पड़ती है।

एक भी कर्ण कटु शब्द श्रोता को उद्विग्न कर देता है। इसलिए कवि और लेखक को हमेशा इन काव्यगत दोषों से बचना चाहिए। अतः दोषों के परिहार के लिए सर्वप्रथम दोषों का ज्ञान आवश्यक है।

दोष सामान्य का लक्षण काव्य प्रकाश में इस प्रकार किया है—

"मुख्यार्थहृतिर्दोषः"

मुख्यस्यार्थस्य हृतिरपकर्षो यस्मात्स दोष इत्यर्थः।

अथवा

मुख्यार्थो हन्यतेऽपकृष्यतेऽनेनेति करणसाधनो हृति शब्दः एवञ्च—मुख्यार्थापकर्षकत्वं दोषत्वमिति दोष सामान्यलक्षणम्।

अर्थात्—मुख्यार्थ का अपकर्ष जिससे होता है, उसको दोष कहते हैं। मुख्यार्थ का मतलब यहाँ रस है।

"रसश्च मुख्यः"

इसलिए मुख्यार्थ विषयक रसविषयिणी जो प्रतीति, उस प्रतीति के अपकर्षक कारण को दोष कहते हैं।

रस का आश्रय होने से वाच्य (अर्थ) को भी मुख्यार्थ कहते है। इसलिए रस के साथ चमत्कारी वाच्य के अपकर्षक को भी दोष कहते हैं।, यह अर्थ दोष है।

"तदाश्रयाद्वाच्यः"

अर्थ रस का आश्रय है, इसलिए वह दोष अर्थगत भी होगा।

उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः ॥१॥

शब्दादि रस तथा वाच्य (अर्थ) दोनों के बोधन में उपकारक (सहायक) होते हैं, इसलिए इनमें भी यह दोष रहता है।

अतः दोष पाँच प्रकार का होता है—

(१) पददोष (२) पदांशदोष (३) वाक्यदोष, (४) अर्थदोष, और (५) रसदोष,

विस्तार के भय से समग्र दोषों का वर्णन लक्षण उदाहरण द्वारा उनका विवेचन यहाँ असम्भव है। अतः मुख्य मुख्य काव्य दोषों का दिग्दर्शन कराया जाता है—

पददोष—

(१) **श्रुतिकटु दोष**—कठोर व कर्णकटु वर्णों से जो पद रस का अपकर्ष करे, उसे श्रुतिकटु दोष कहते हैं।

उदाहरण—

"कार्तार्थ्यं लभते कदा"

यहाँ यह **कृतार्थस्य भावः कार्तार्थ्यम्** यह शब्द कर्णकटु है। प्रायः रेफ घटितसंयुक्त वर्ण कविता के माधुर्य का अपहरण करते हैं। अतएव किसी विद्वान् ने कहा भी है—

"स्वायत्ते शब्दप्रयोगे कर्णोपतापकप्रयोगेण श्रोतुरुद्वेगो रसापकर्षाय भवति" जैसे हिन्दी का यह पद्यांश—

"पर क्या न विषयोत्कृष्टता करती विचारोत्कृष्टता"।

यहाँ **"विषयोत्कृष्टता और विचारोत्कृष्टता"** इन पदों के अक्षरों का योग, संयोग व रेफ के कारण कानों के लिए कर्णकटु है।

(२) **च्युतसंस्कृति दोष**—व्याकरण के संस्कार से हीन पद च्युतसंस्कृति दोष से दुष्ट होता है।

उदाहरण—

"दीनं त्वामनुनाथते कुचयुगं पत्रावृत्तं मा कृथाः ॥

याचनार्थक नाथ धातु परस्मैपदी है, **"आशिषिनाथः"** इस सूत्र से केवल आशीः अर्थ में ही आत्मनेपद का विधान है, अतः **अनुनाथते** यह पद च्युतसंस्कृति दोष से दुष्ट है।

(३) **अप्रयुक्त दोष**—कोषादि में उस अर्थ में होने पर भी कवियों के द्वारा उस अर्थ में प्रयुक्त न हो। जैसे "दैवत:" शब्द कोष की दृष्टि से उभय लिङ्ग-पुलिङ्ग तथा नपुंसक लिङ्ग में पठित है, पर कवियों के द्वारा इसका प्रयोग पुलिङ्ग में नहीं किया जाता है अत: 'दैवत:' यह पद अप्रयुक्त दोष से दूषित है।

(४) **निहतार्थ दोष**—दो अर्थ वाले पद को अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग करना निहतार्थ दोष कहलाता है। जैसे "शोणित" पद का रुधिर रूप अर्थ ही प्रसिद्ध है, न कि रक्त या लाल रंग, अत: शोणित पद का लालरंग के अर्थ में प्रयोग दोष ही है।

(५) **अनुचितार्थ**—अनुचित अर्थ वाले पद,

(६) **निरर्थक**—जिसका पादपूर्ति के लिए प्रयोग किया जाए।

(७) **अवाचक**—कवि विपक्षित अर्थ का जो वाचक न हो जैसे भारवि के 'अवन्ध्यकोपस्या' इत्यादि पद्य में "जन्तु" पद का अदाता अर्थ में प्रयोग किया, परन्तु यह पद इस अर्थ का वाचक नहीं है। अपितु अमर्षशून्य व्यक्ति की तुच्छता का सूचक है।

(८) **अश्लील दोष**—तीन प्रकार का होता है, व्रीडा, जुगुप्सा तथा अमंगल के भेद से, काव्य में हमेशा शिष्ट शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। व्रीडा व्यञ्जक या जुगुप्सा और अमङ्गल व्यञ्जक शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

(९) **ग्राम्य दोष**—यह भी एक प्रकार का अशिष्ट या अशिक्षित प्रयुक्त दोष है, काव्य में नागरिक भाषा का ही अधिक प्रयोग होना चाहिए।

(१०) **संदिग्ध दोष**—ऐसे पद या वाक्य का प्रयोग नहीं करना चाहिए, जिससे उसके अर्थ में या प्रकृति पद में सन्देह हो, यह दोष पद, वाक्य तथा अर्थ गत है।

(११) **अविमृष्टविधेयांश**—वाक्य में विधेय अंश की प्रधानता होती है, पर कभी कभी ऐसा होता है कि विधेय अंश का मुख्यरूप से प्रतिपादन नहीं होता है। तब एक गम्भीर दोष उत्पन्न हो जाता है, जिसका नाम है—अविमृष्टविधेयांश और "यत्तदोर्नित्यसम्बन्ध:" इस नियमानुसार यत् पद यदि उद्देश्य हो तो बाद में तद् पद से उसका विधान करना चाहिए, ऐसा न करने से दोष होता है। जैसा कि काव्यप्रकाश की वामनी टीका में लिखा है—

"इदमन्नोद्देश्य विधेयभावविषयेऽवगन्तव्यम्।"

"यच्छब्दप्रतिपाद्यं सिद्धत्वेन प्रतीयमानमनुवाद्यमुद्देश्यम्, तदादि शब्द प्रतिपाद्य-मुद्देश्यसम्बन्धितया अपूर्वबोधविषयीभूतं विधेयम् यथा—"यः क्रियावान् स

पण्डितः" इत्यादौ **क्रियावन्तमुद्दिश्याभेदेन पण्डितः स्वरूपसम्बन्धेन पण्डितत्वं वा विधीयते।**

"जिसे हमने कल बुलाया था वही राम अब आया है।" इस वाक्य में जिसे तथा वही का प्रयोग ठीक हुआ है। यदि यत् और तत् शब्द को पास रख दिया जाए तो वह विधेय अंश की ठीक-ठीक प्रतीति नहीं करा सकता है।

समास के अन्दर आ जाने से भी किसी पद का प्राधान्य लुप्त हो जाता है. ऐसी स्थिति में विधेय अंश को समास के भीतर प्रविष्ट कर देना नितान्त अनुचित है—

उदाहरण—पार्वती के समक्ष यह शिवजी का वर्णन है—**"वपुर्विरुपाक्षम-लक्ष्यतन्मता"** अर्थात् शरीर विरूप आँख (तीन आँख) वाला है तथा अदृष्ट जन्म भाव वर्तमान है। विवक्षित अर्थ है कि शिव जी का जन्म अलक्षित है। परन्तु समास के भीतर रख देने से उसका जोर चला गया, और प्राधान्य नष्ट हो गया, यह अनुचित है।

वाक्यदोष

ऊपर जिन प्रधान पद दोषों का उल्लेख किया गया है इसमें से कतिपय दोष पदांश में भी विद्यमान रहते हैं। प्रायः समस्त पद दोष वाक्यों में भी रहते हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त कुछ विशिष्ट वाक्य दोष भी होते हैं, जिनकी स्थिति केवल वाक्य में होती है।

(१) **प्रतिकूलवर्णता**—जहाँ वर्ण प्रकृत-रस के पोषक नहीं होते वहाँ प्रतिकूल वर्णता दोष होता है। जैसे—शृङ्गार रस में **"अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णमा-कण्ठं कलकण्ठि माम्"** इत्यादि पद्य में कवि ने ट वर्ग का प्रयोग किया है, जब कि ट वर्ग शृङ्गार रस का परिपन्थी है।

(२) **न्यूनपदता**—जहाँ पदों की कमी हो, वहाँ न्यून पदता नामक दोष होता है—**जैसे**—

नृप तिहारे खड्ग ते प्रकट भयो जस फूल।

हे राजन् तुम्हारे तलवार से यश रूपी फूल प्रकट हुआ। यहाँ यश को फूल कहा गया है, अतः खड्ग को लता कहना चाहिए था, लता पद की कमी होने से न्यूनपदता दोष है।

(३) **अधिकपदता**—अभीष्ट अर्थ से अधिक पद हो जाने से अधिकपदता दोष होता है; वैसे नियम तो यह है कि जितना अर्थ हो उतना ही शब्द प्रयोग भी होना चाहिए। जैसे—

डसै तिहारे शत्रु को खड्गलता अहिराज—तुम्हारी तलवार लतारूपी सर्प शत्रुओं को डस रहा है। यहाँ लता पद बिना किसी प्रयोजन के रखा गया है। अतः अधिकपदता दोष है।

(४) **अभवन्मत योग**—वाक्य में अभिमत अर्थात् इष्ट सम्बन्ध का न होना।

वाक्य में शब्दों का परस्पर सम्बन्ध होना नितान्त आवश्यक है, परन्तु कभी कभी यह अभीष्ट सम्बन्ध नहीं बनता, "**गुणानाञ्च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात् स्यात्**" अप्रधान प्रधान के लिए होते हैं, दो या अधिक अप्रधानों का आपस में सम्बन्ध नहीं होता है। मीमांसा के इस नियम के अनुसार वाक्य में प्रयुक्त अवान्तर पदों का सम्बन्ध मुख्य वाक्य से ही होना चाहिए।

जैसे—"विद्यालय के जो अध्यक्ष गणित विद्या में पारङ्गत हैं, तथा जिनके ऊपर इस नगर को पूरा अभिमान है, आज उन्हीं की अभ्यर्थना है"

यहाँ आरम्भ में दो अवान्तर वाक्य हैं, तथा अन्त में हैं मुख्य वाक्य, इन तीनों वाक्यों में अध्यक्ष पद का सम्बन्ध अभीष्ट है, परन्तु उसे प्रथम अवान्तर वाक्य में ही अन्तर्निविष्ट होने के कारण अभिमत सम्बन्ध बनता नहीं है, अर्थात् उसका सम्बन्ध दो अन्य वाक्यों के साथ सिद्ध नहीं होता है।

(५) **कथितपदता**—बार-बार एक पद का प्रयोग करना, यह दोष कवि के शब्द दारिद्रच को प्रकट करता है।

उदाहरण—

रतिलीला श्रमं भिन्ते सलीलमनिलो वहन् ॥
रतिलीला श्रम को हरत लीला युत चलि पौन ॥

यहाँ लीला शब्द का प्रयोग दो बार किया है।

(६) **भग्न प्रक्रमता**—निबन्ध अथवा कविता जिस क्रम से प्रारम्भ की जाए उसी क्रम या तत्सम्बन्ध वाक्यों को उसी क्रम में समाप्त करना चाहिए, ऐसा जहाँ नहीं किया जाए वहाँ यह दोष होता है।

उदाहरण—

नाथे निशाया नियतेर्नियोगादस्तं गते हन्त निशाऽपि याता ॥

दैववश निशा नायक चन्द्र के अस्त हो जाने पर निशा भी चली गयी। यहाँ प्रारम्भ गम् धातु से "अस्तङ्गते" कह कर "याता" या धातु से उपसंहार किया, अतः यह प्रक्रम भङ्ग है। "गता निशाऽपि" यह पाठ उचित था।

यहाँ एक ही पद का दो बार प्रयोग करने से कथितपदता दोष की शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह पुनरुक्त या कथितपदता दोष तो उद्देश्य प्रतिनिर्देश्य से भिन्न स्थलों में होता है।

जहाँ उद्देश्य प्रतिनिर्देश्यभाव हो वहाँ तो पदान्तर से प्रतिपादित वह अर्थ प्रकृत प्रतीति का स्थगन कर देता है।

उद्देश्य प्रतिनिर्देश्य का उदाहरण—

उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ॥१॥
उदय होत रवि रक्त अरु रक्तहि होवत अस्त।
संपत्ति और विपत्ति में सज्जन होत न व्यस्त ॥१॥

अर्थ दोष—

अर्थ की रुचिरता के लिए कतिपय नियमों का पालन किया जाता है, जिससे अर्थ की स्वच्छता व रुचिरता बनी रहती है। यदि उन नियमों का उल्लंघन किया जाए तो अर्थ में अस्वच्छता आने लगती है यही अर्थगत-अस्वच्छता ही अर्थ दोष है। जिनमें मुख्यतः ये हैं—

(१) **कष्टार्थता**—अर्थ के समझने में जहाँ कष्ट हो जैसे—

तौं पर वारों चार मृग चारविहंग फल चार

तुम पर मैं चार पशु निछावर करती हूँ। नयन पर मृग, घूंघुट पर हय, गति पर हाथी, तथा कटि पर सिंह, वचन पर कोकिला को, ग्रीवापर कपोत को, केशपर मयूर को, तथा नासिका पर शुक को, इस प्रकार चार पक्षियों को मैं निछावर करती हूं। और चार फल को भी दन्त पर दाडिम को, कुच पर श्रीफल को, अधर पर विम्बफल को, तथा कपोल पर मधूक को वारती हूँ। स्पष्ट ही इसका अर्थ करना अत्यन्त कठिन है।

(२) **व्याहतता**—जहाँ किसी वस्तु का महत्त्व दिखलाकर फिर हीनता दिखलाई जाए, या पहले हीनता दिखलाकर फिर महत्त्व दिखलाया जाय वहाँ व्याहतत्व दोष होता है। जैसे—

औरन के मनहरन को चन्द्रकलादि अनेक।
मोहि सुखद दृगचन्द्रिका प्रिया वही है एक ॥१॥

यहाँ पूर्वार्ध में चन्द्र की निन्दा की और उत्तरार्ध में उसी चन्द्रकला को अपने लिए सुखद माना है।

(३) प्रसिद्धिविरुद्ध—"कवि समय ख्याति" के विरुद्ध अर्थ का जहाँ वर्णन हो। जैसे—

उपपरिसरं गोदावर्य्या परित्यजताध्वगा: ?
सरणिमपरो मार्गस्तावद् भवद्भिरवेक्ष्यताम्।
इहहि विहितो रक्ताशोक: कयापि हताशया,
चरणनलिनन्यासोदञ्चन्नवाङ्कुरकञ्चुक: ॥१॥
भूलि न जइयो पथिक ? तुम तिहि सरिता पथ ओर।
तरुणि पदाहत अङ्कुरित नव अशोक उहि ओर ॥१॥

पथिक को कोई उस नदी की ओर बढ़ने से रोक रहा है, जहाँ के नवीन अशोक वृक्ष तरुणी के पैरों के आघात से अंकुरित हो उठे हैं। यहाँ कवि समय का विरोध है। तरुणी के पैरों की चोट से अशोक खिलता है, अंकुरित नहीं होता, अत: प्रसिद्ध विरुद्धि है।

(४) अनवीकृतत्व—जहाँ अर्थों में नवीनता नहीं लाई गयी हो। बल्कि अर्थ एक सा हो वहाँ यह दोष होता है।

सदा करत नभ गौन रवि, सदा चलत है पौन।
सदा धरत भुवि शेष सिर, धीर सदा रहे मौन।

चारों चरणों में "सदा" के प्रयोग से अर्थ में नवीनता नहीं आई है, अतः यहाँ अनवीकृत दोष है।

(५) साकाङ्क्षता—जिस अर्थ की पूर्ति होने में कुछ शब्दों की आकाङ्क्षा बनी रहती है, वहाँ यह दोष होता है।

परम विरागी चित्त निज पुनि देवन को काम।
जननी रुचि पुनि पितु वचन, क्यों तजि हैं वन राम॥

रामचन्द्र का चित्त तो स्वयं परम वैराग्य युक्त है। फिर देवताओं का काय भी करना है, जननी कैकई की इच्छा, और पिता दशरथ का वचन ठहरा, ऐसी स्थिति में राम वन को क्यों छोड़ेंगे ? अभिप्राय यह है कि वन का जाना क्यों छोड़ेंगे। इस दोहे में तजिहैं की जगह "जांय" इस पद की आकाङ्क्षा है। तब "क्यों न जांय वन राम" ऐसा वाक्य होगा।

(६) प्रकाशितविरुद्धता—जहाँ किसी विरुद्ध अर्थ का प्रकाशन हो, वहाँ यह दोष होता है।

कुमारस्ते नराधीश:श्रियं समधिगच्छतु।
राज्यलक्ष्मि को प्राप्त हों नृपतव जेष्ठ कुमार॥

हे राजन् ! आपका ज्येष्ठ कुमार राजलक्ष्मी को प्राप्त करे इस वाक्य में राजा के मरने का अर्थ प्रकाशित होता है, क्योंकि जब राजा का देहान्त होगा तब ज्येष्ठ कुमार राजलक्ष्मी को प्राप्त करेगा।

अत: प्रकाशित अर्थ से विरुद्ध अर्थ के प्रकाशन होने से यह दोष है।

रस दोष—

रस दोष ही काव्य का मुख्य दोष है, रसोन्मीलन की प्रक्रिया में काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने कतिपय आधारभूत नियमों का निर्देश किया है। जिनके अनुपालन से काव्य सरस सुन्दर तथा सहृदयावर्जक होता है और इन नियमों का तिरस्कार करने से काव्य नितान्त दुष्ट तथा उपहास्यास्पद होता है। अतः आधार भूत इन नियमों का अनुशीलन अपेक्षित है—

(१) **"व्यभिचारिरसस्थायिभावनां शब्दवाच्यता" दोषाय भवतीत्यर्थः।**

रस सर्वदा व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा उन्मीलित होता है। अभिधा के द्वारा उसका प्रकाशन कथमपि नहीं हो सकता है। यही नियम स्थायिभाव तथा व्यभिचारी भावों के लिए भी है, इस नियम का उल्लंघन करने से "स्वशब्द वाच्यता" नामक रस का उदय होता है।

यथा—"तामुद्वीक्ष्य कुरङ्गाक्षीं रसो न कोप्यजायत" इत्यादि शृङ्गार रस के प्रकरण में रस को रस शब्द से अभिहित कर देने से स्व शब्द वाच्यता दोष है। "उस योद्धा को देखकर हमारे हृदय में वीररस उमड़ पड़ा।" इस वाक्य में वीररस स्व शब्द वाच्य होने से रस की सत्ता नितान्त अनुचित है, किन्तु यहाँ वीररस की अभिव्यक्ति उसके विभाव व अनुभावों के द्वारा ही होनी चाहिए।

(२) **कष्ट कल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयोः।**

किसी पद्य में अनुभाव तथा विभाव का उन्मीलन सरल स्वाभाविक ढंग से होना चाहिए। यदि इनकी अभिव्यक्ति कष्ट कल्पना से करनी पड़े तो रस दोष माना जाता है।

यथा—"परिहरति रतिं मतिं लुनीते" इत्यादि पद्य में वर्णित नायिका की बेचैनी आदि अनुभाव, न केवल शृङ्गार रस में अपि तु करुण रस में या भयानक वीभत्स आदि रसों में भी पाये जाते हैं अतः कामनी रूप आलम्बन विभाव यहाँ कठिनाई से प्रतीत होता है

(३) **प्रतिकूलविभावादिग्रहः।**

विरोधी रस के विभावादि का ग्रहण नहीं करना चाहिए। जैसे—शृङ्गार रस के प्रसङ्ग में प्रकृत के प्रतिकूल शान्त रस के विभाव का वर्णन करना—

"न मुग्धे प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः" इत्यादि।

(४) पुनः पुनः दीप्तिः

पुनः पुनः उसी रस की दीप्ति दोष माना जाता है। जैसे—कुमारसम्भव में "रति विलाप" के समय करुण की बार बार दीप्ति अनुचित है।

(५) अकाण्डे प्रथनच्छेदौ

अचानक न तो रस का प्रस्तार करना चाहिए और न प्रासङ्गिक रस का सहसा उच्छेद ही करना चाहिए।

(६) अङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः

अङ्गी मुख्य रस का ही काव्य में विशेष वर्णन उचित है, अङ्ग का अत्यन्त विस्तार कभी नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से अङ्गातिविस्तृति नामक रस दोष होता है।

(७) अङ्गिनोऽननुसन्धानम्

काव्य या नाटक में अङ्गी पदार्थ नायक का ही वर्णन तथा अनुसन्धान सदा आवश्यक रहता है। उसका तिरस्कार कर उसे बिलकुल भुला देना नितान्त अनुचित है।

(८) प्रकृतीनां विपर्ययः

नाटक में चित्रित पात्रों के कर्म तथा व्यवसाय उनके स्वरूप के अनुसार ही ही होना चाहिए, प्रकृति—अर्थात् पात्र तीन प्रकार के होते हैं। (१) दिव्य—स्वर्गीय देव अप्सरा आदि। (२) अदिव्य—पृथ्वीचारी जीव मर्त्यलोकस्थ। (३) दिव्यादिव्य—दोनों गुणों से मिश्रित पात्र।

इनके स्वरूपों के अनुसार ही इनके कर्म व व्यवहार का काव्य या नाटक में चित्रण करना कवि का परम धर्म है। तभी तो दर्शकों के मन में इनका यथार्थ प्रभाव पड़ता है, अन्यथा तो प्रकृति विपर्यय नामक दोष होता है।

काव्य के दोषों में रस दोष ही अन्तरङ्ग दोष माना गया है, अन्य दोष तदपेक्षया बहिरङ्ग हैं। दोषों का विभाजन आचार्यों ने इस प्रकार भी किया है, कुछ दोष नित्य होते हैं, और कुछ अनित्य।

(१) नित्य दोष—जो हमेशा दोष ही बने रहते हैं। वे नित्य दोष कहलाते हैं। जैसे च्युतसंस्कृतत्यादि।

(२) **अनित्य दोष**—जो किसी अवस्था विशेष में दोषत्व को छोड़कर गुण हो जाते हैं वे अनित्य दोष कहलाते हैं।

जैसे—श्रुतिकटुत्व दोष—यह शृङ्गार रस में ही दोष होगा, परन्तु वीर, वीभत्स व रौद्र रस में गुण बन जाता है। इसी तरह "अधिकपदता" यह भी दोष हैं, और कथितपदता, परन्तु भय तथा हर्ष की स्थिति में यह वक्ता के मुख से अधिक पदों का प्रयोग उचित ही है।

दोषों का प्रतिप्रसव—

सञ्चार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यस्योक्तिर्गुणावहा।

प्रकृत रस के विपरीत सञ्चारिभाव अनुभाव तथा विभाव आदि का बाध्यत्वेन कथन करना, दोष नहीं अपितु गुणाधायक ही है।

यथा—

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम् ॥१॥

यह सच है कि स्त्रियाँ बड़ी मनोरम होती हैं, और यह भी सच है कि सम्पत्ति भी बड़ी रमणीय होती है। परन्तु उन सबके भोग करने का साधनभूत यह जीवन तो मदमत्त स्त्री के कटाक्ष के समान क्षणभङ्गुर है।

इस पद्य में शान्तरस मुख्य है, परन्तु मनोरमा रामाओं की चर्चा करके कवि ने शृङ्गार रस के आलम्बन विभावरूप अङ्ग का उसमें समावेश कर दिया है। फिर भी इन मनोरमाओं की चर्चा से पाठक के हृदय में शृङ्गाररस की अनुभूति नहीं होती है और मत्ताङ्गनापाङ्गरूप शृङ्गाररस का अनुभाव भी शृङ्गार रस की अभिव्यक्ति में समर्थ नहीं है, बल्कि इससे जीवन की क्षणभङ्गुरता का प्रतिपादन बड़े सुन्दर ढंग से हो रहा है। इसलिए विषयों से विमुख होने की शिक्षा इस पद्य से सरलता से मिल जाती है, साथ ही साथ कोरे शान्तरस चर्चा में शृङ्गार का पुट भी सौन्दर्य ला देता है। इसलिए यहाँ दोष नहीं है, यह ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य का कथन है—

विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा।
तद्विरुद्धरसस्पर्शस्तदङ्गानां न दुष्यति ॥ (ध्वन्यालोक)

परन्तु यहाँ काव्यप्रकाशकार का समीक्षण सिद्धान्त इस प्रकार है—यहाँ विरोधी रसाङ्ग के बाध्यत्वेन कथन में दोष नहीं होता है। यह सिद्धान्त जब स्थिर हो चुका है तो उसी से यहाँ काम चल जायेगा। फिर मत्ताङ्गनापाङ्गरूप

अनुभाव को उपमान बनाकर जीवन को अस्थिरता को उपमेयरूप में प्रस्तुत किया है। अतः अधिक गुण वाले उपभूत मताङ्गनापाङ्ग की अस्थिरता उपमेयभूत जीवन की अस्थिरता से अधिक है यह उचित ही है। अतः मताङ्गनापाङ्ग के साथ जीवन की अस्थिरता का उपमानोपमेयभाव तदवत् जीवन की क्षणभङ्गुरता को प्रस्तुत करते हुए शान्तरस को ही पुष्ट कर रहा है। श्रृङ्गाररस को नहीं। इसलिए उक्त स्थल में विरोध परिहार के लिए किसी नये नियम की आवश्यकता नहीं है।

काव्यप्रकाश में दोष दर्शन नामक

॥ सप्तम उल्लास समाप्त ॥

अष्टम उल्लास

गुण निरूपण—

शारीरिक दोषों के कारण कोई व्यक्ति उतना ही हेय हो जाता है जितना मानसिक दोषों के कारण, उसी प्रकार शूरता, वीरता, सत्यवादिता आदि गुणों के कारण कोई भी व्यक्ति समाज में आदर पाता है।

काव्य जगत् की भी ठीक यही दशा है, दोषों के कारण यदि कोई काव्य हेय तथा निन्दनीय माना जाता है, तो वही माधुर्य या श्रवणपेशलता के कारण प्रसंशनीय होता है, तथा श्रोताओं के हृदय को आकृष्ट करता है।

इस प्रकार गुण काव्य की शोभा बढ़ाने वाले अन्तरङ्गधर्म होते हैं। अलंकार का स्वभाव इससे भिन्न होता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि— काव्य में सदा विद्यमान रहने वाले, शोभा के उत्कर्ष को बढ़ाने वाले रस के धर्म को गुण कहते हैं। जैसा कि आचार्य मम्मट का कथन है—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥१॥

अर्थात्—शूरता, वीरता, उदारता आदि गुण जैसे आत्मा के उत्कर्षाधायक होते हैं, उसी प्रकार अङ्गीरस नित्यधर्म, माधुर्य, ओज, प्रसाद गुण भी अङ्गीरस के उत्कर्षाधायक होते हैं।

गुण और अलंकार के भेद—

ग्रन्थकार के मत में गुणरस के उत्कर्षाधायक, रस के अव्यभिचारी (अचल नित्य) और रस मात्रनिष्ठ धर्म हैं, जबकि अलंकार उनसे भिन्न है। वे रस के बिना रह भी सकते हैं, और रसनिष्ठ होने पर कभी रस के पोषक भी हो सकते हैं, और कभी रस के पोषक नहीं भी हो सकते हैं।

एवं च— रसोत्कर्षकत्वे सति, रसाव्यभिचारिस्थितित्वम्, अव्यभिचारेण रसोपकारकत्वञ्चेति गुणसामान्यलक्षणम् तथा च रसोत्कर्षकत्वे सति रस व्यभिचारीस्थितित्वम्। अनियमेन च रसोपकारकत्वमलङ्कारसामान्यलक्षणम् ॥

यही गुण और अलंकार में भेद है।

भामह विवरण के लेखक भट्टोद्भट्ट का मत—

भट्टोद्भट्ट के मत में गुण तथा अलंकारों में कोई भेद नहीं है। लौकिक गुण तथा अलंकारों में तो यह भेद किया जा सकता है कि हारादि अलंकारों का शरीर के साथ संयोग सम्बन्ध है, और शौर्यादि गुणों का आत्मा के साथ समवाय सम्बन्ध है, इसलिए लौकिक गुण तथा अलंकार में भेद माना जा सकता है। परन्तु काव्य में तो ओज आदि गुण तथा अनुप्रास, उपमा आदि अलंकार दोनों ही समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, इसलिए काव्य में अनेक भेद का उपपादान नहीं किया जा सकता है।

वामन का मत—

दूसरा मत काव्यालङ्कारसूत्र के निर्माता वामन का है। यह भेदवादी मत है। वामन गुण और अलंकार में भेद मानते हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ में इन दोनों का भेद इस प्रकार दिखाया है—

काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।

अर्थात्—काव्य शोभा के उत्पादक धर्म गुण हैं, और विद्यमान उस शोभा के उत्कर्ष को बढ़ाने वाले धर्म अलंकार हैं। जैसे युवती के अन्दर सौन्दर्यादि गुणों के रहने पर ही अलङ्कार उसकी शोभा के अभिवर्द्धक होते हैं। वास्तविक शरीर सौन्दर्य न होने पर धारण किये हुए भी सुन्दर अलङ्कार व्यर्थ हो जाते हैं, उसी प्रकार काव्य में प्रसादादि गुणों के रहने पर ही यमक, उपमा आदि अलंकार उसके शोभावर्धक हो सकते हैं, अन्यथा नहीं।

युवतेरिव रूपमङ्ग काव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहित प्रणयं निरन्तराभिः सदलङ्कारविकल्पकल्पनाभिः॥
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते॥२॥

वामन के अनुसार गुण काव्य के अपरिहार्य धर्म हैं, जिनके बिना काव्य की निष्पत्ति ही नहीं होती है। वामन के इसी बात से प्रभावित होकर मम्मट ने काव्य के लक्षण में "सगुणौ" कहकर गुणों की अपरिहार्यता का उल्लेख तथा "अनलंकृती पुनः क्वापि" यह लिखकर अलङ्कारों का वैकल्पिक विधान किया।

आनन्दवर्धनाचार्य का मत—

गुण तथा अलंकार के भेद के विषय में ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्य का मत इस प्रकार है—इन्होंने इन दोनों का भेद इस प्रकार दिखाया है—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा: मन्तव्या: कटकादिवत् ॥१॥

अभिप्राय यह है कि काव्य के आत्मभूत रसादिरूपध्वनि के आश्रित रहने वाले धर्म गुण हैं, और काव्य के अङ्गभूत शब्द व अर्थ के धर्म अलङ्कार हैं।

मम्मटाचार्य का मत—

मम्मट ने वामन के शोभाजनकत्व के स्थान पर उत्कर्षाधायकत्व हेतु को ही गुण और अलंकारों के लिए ग्रहण किया, शेष सारा सिद्धान्त ध्वन्यालोककार का ग्रहण किया। जैसे गुणों की रसधर्मता व अलंकारों की शब्दार्थ धर्मता आदि।

इसी के आधार पर इन्होंने अलंकार का भी लक्षण किया—

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥३॥

गुणों की संख्या में मतभेद—

गुणों की संख्या के विषय में आचार्यों में बड़ा मतभेद है, आद्य आचार्य भरत मुनि ने गुणों की संख्या दश मानी है। उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) श्लेष (२) प्रसाद (३) समता (४) समाधि (५) माधुर्य (६) ओज (७) सुकुमारता (८) अर्थव्यक्ति (९) उदारता (१०) कान्ति। दण्डी के मत में भी गुणों की संख्या दश ही है, और उनके नाम भी ये ही हैं, सिर्फ इनके स्वरूप के विषय में कुछ फर्क है। वामन ने इन गुणों शब्दगत तथा अर्थगत भेद से द्विगुणित कर दिया। फलतः वामन के मत में गुणों की संख्या बीस हो गई।

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः ॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणा मताः ।
इति वामनोक्ता दशशब्दगुणाः दश अर्थगुणाश्च ॥

परन्तु मम्मट ने इस सभी गुणों का माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीन ही गुणों में कर दिया। उन्होंने लिखा है—

केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परेश्रिताः ।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश ॥

ये दश शब्द गुण व दश अर्थगुण जो वामन द्वारा प्रदर्शित किये गये हैं, वे कुछ इन्हीं तीन गुणों में समा जाते हैं, और कुछ दोषाभावरूप हैं। कुछ दोष

के अन्तर्गत हैं। इस प्रकार तीन ही गुण हैं न कि दश शब्द और दश अर्थगुण।

गुणों का स्वरूप

माधुर्य गुण का स्वरूप—ट वर्ग को छोड़कर, वर्ण का अन्तिम वर्ण संयुक्त हो, और फ से लेकर भ पर्यन्त स्पर्श संज्ञक वर्ण ह्रस्वरेफ और णकार, अल्पसमास वाली रचना माधुर्य गुण की अभिव्यञ्जक है।

ओजो गुण का स्वरूप—वर्ग के प्रथम तथा तृतीय वर्ण के साथ द्वितीय और चतुर्थ वर्ग का योग हो, ऊपर नीचे या दोनों जगह रेफ हो, ट वर्ग, श ष, दीर्घसमास वाली रचना ओजो गुण की अभिव्यञ्जिका है।

प्रसाद गुण का स्वरूप—जिस शब्द या रचना के श्रवणमात्र से अर्थ की प्रतीति हो जाय, वह समस्त वर्णों व रचनाओं में रहने वाला गुण प्रसाद गुण है।

विशेष लक्षण

माधुर्य गुण—चित्त के द्रुति (द्रवीभाव) का कारण है आह्लादकस्वरूप है, और यह श्रृङ्गार में रहने वाला है। क्रमशः—करुण, विप्रलम्भ व शान्त में उत्तरोत्तर द्रुति का आधिक्य है।

ओजोगुण—चित्त विस्तार में कारणीभूत दीप्ति ओज कहलाती है।

यह ओज सामान्यतः वीररस में रहता है, परन्तु वीभत्स व रौद्र में दीप्ति उत्तरोत्तर अधिक रहेगी।

प्रसादगुण—स्वच्छ धुले हुए वस्त्र में जल के समान जो चित्त को शीघ्र ही व्याप्त कर लेता है, यह सर्वत्र सभी रसों में सभी रचनाओं में रहता है।

माधुर्य गुण का उदाहरण—

अनङ्गरङ्गप्रतिमं यदङ्गम्। इत्यादि

ओजो गुण का उदाहरण—

"मूर्ध्नामुद्वृत्तकृतेत्यादि"

प्रसाद गुण का उदाहरण—

परिम्लानं पीनस्तन जघान संघावुभयतः। इत्यादि।

काव्यप्रकाश में गुण विवेचन नामक

॥ अष्टम उल्लास समाप्त ॥

नवम उल्लास

शब्दालङ्कार—

प्राय: सभी आचार्यों में "शब्दार्थौ काव्यम्" कहकर शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर माना है और अलंकार काव्यशरीर के शोभाधायक तत्त्व हैं। इसलिए काव्य में शब्द और अर्थ के उत्कर्षाधायक तत्त्व को अलंकार कहते हैं, जैसा कि विश्वनाथ ने भी कहा है "उत्कर्ष हेतव: प्रोक्ता: गुणालङ्काररीतय:"।

अर्थात्—शब्द और अर्थ अलंकार के आधार हैं। इसी के आधार पर शब्दालंकार अर्थालङ्कार और उभयालंकार की कल्पना की जाती है। शब्दालंकार तथा अर्थालंकार में भेद शब्दपरिवृत्ति सहत्वासहत्व के ऊपर निर्भर है। या शब्दालंकार में शब्द का अलंकार के साथ अन्वय व्यतिरेक विधान भी है, यत्शब्दसत्वे यदलंकारसत्ता यच्छब्दाभावे यदलंकाराभाव:', पर अर्थालंकार शब्द परिवृत्ति को सहन करता है, अर्थात पर्यायवाचक शब्दान्तर की सत्ता में भी अर्थालङ्कार में कोई क्षति नहीं होती।

शब्दालंकारों की संख्या—

वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र, पुनरुक्तवदाभास ये छ: शब्दालंकार हैं।

काव्यप्रकाश के टीकाकार सोमेश्वर ने इन्हीं छ: शब्दालंकारों को एक श्लोक में गिना दिया है।

वक्रोक्तिरप्यनुप्रासो यमकं श्लेष चित्रके।
पुनरुक्तवदाभास: शब्दालंकृतयस्तु षट् ॥१॥

यद्यपि पुनरुक्तवदाभास केवल शब्दालंकार न होकर शब्दार्थोभयालंकार हैं, पर चिरन्तनों ने इसे शब्दालंकार में ही गिनाया है, जैसा कि कविराज विश्वनाथ ने भी लिखा है—

"शब्दालंकारेषु वक्तव्येषु शब्दार्थालंकारस्यापि पुनरुक्तवदाभासस्य चिरन्तनै: शब्दालंकारमध्ये लक्षितत्वात् प्रथमं तमेवाह इत्यादि।

(१) वक्रोक्ति

यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते ।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा ॥१॥

वक्ता द्वारा अन्य प्रकार से कहा हुआ वाक्य दूसरे श्रोता या बोद्धा के द्वारा श्लेष या काकु से अन्य अभिप्राय से लगाया जाय तो श्लेष वक्रोक्ति और काकु वक्रोक्ति होती है।

उदाहरण—

काले पयोधराणामपतितया नैव शक्यते स्थातुम् ॥
उत्कण्ठितासि तरले नहि नहि सखि पिच्छिलः पन्था।

अत्र "अपति..या" इति पतिं विनेत्यभिप्रायकं स्ववचनं पतनाभावेनेत्यर्थे स्वेनैवान्यथा कृतम्।

हिन्दी में—

गौरवशालिनी प्यारी हमारी सदा तुमहीं इक इष्ट प्रहो।
हौं न गऊ, नहि हौ अवशा, अलिनी हौं नहि अस काहे कहो।

इस पद्य में शिव पार्वती का संवाद है।

पद्य का पूर्वार्ध शिव का वचन है, इसमें शिवजी ने पार्वती को गौरवशालिनी प्रिया कहा है।

उत्तरार्ध पार्वती का उत्तर है, "गौरवशालिनी" इसका पदच्छेद कर पार्वती ने इसका दूसरा ही अर्थ किया। पदच्छेद इस प्रकार है—गौ+अवशा+अलिनी। अतः दूसरा अर्थ लेकर पार्वती कह रही हैं—न तो मैं गऊ हूं और न अवशा ही हूं तथा न मैं अलिनी ही हूं ऐसा क्यों कह रहे हो।

(२) अनुप्रास—

वर्ण साम्यमनुप्रासः।

स्वरों के भेद होने पर भी व्यञ्जन वर्णों की समानता (रसानुकूल प्रकृष्ट सन्निवेश) को अनुप्रास कहते हैं।

छेकवृत्तिगतो द्विधा।

वह अनुप्रास दो प्रकार का है। छेकानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास।

छेकानुप्रास—

अनेक व्यञ्जनों की एक बार साम्य (आवृत्ति) को छेकानुप्रास कहते हैं।

उदाहरण—

"ततोऽरुण परिस्पन्द मन्दीकृत वपुः शशी"

यहाँ पकार तथा न्द आदि अनेक वर्णों का एक बार साम्य है।

हिन्दी में—

राधा बर के बैन सुनि, चीनी चकित सुभाय।
दाख दुःखी मिसरी मुरी, सुधा रही सकुचाय ॥

यहाँ अनेक व्यञ्जनों की एक बार आवृत्ति होने से छेकानुप्रास है।

वृत्त्यनुप्रास—

"एकस्याप्यसकृत् परः"

एक वर्ण का या अनेक वर्णों का अनेक बार साम्य (आवृत्ति) होने पर वृत्त्यनुप्रास होता है।

उदाहरण—

अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः।
अलमलमालि ! मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला ॥

इस पद्य में रकार, ककार, लकार और मकार की बार-बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास नामक अलंकार है।

वृत्त्यनुप्रास में गुण, वृत्ति, रीति आदि का समन्वय—

वृत्त्यनुप्रास के प्रसङ्ग में वृत्ति शब्द की व्याख्या आवश्यक है। वृत्ति रीति मार्ग, सङ्घटना तथा शैली शब्द प्रायः समानार्थक हैं।

उद्भट ने अपने "काव्यालङ्कारसारसंग्रह" नामक ग्रन्थ में उपनागरिका, परुषा, तथा कोमला तीन प्रकार की वृत्तियों का वर्णन किया है। इन तीन प्रकार की वृत्तियों को वामन ने तीन प्रकार की रीतियों के नाम से, कुन्तक तथा दण्डी ने तीन प्रकार के "मार्गों" के रूप में और आनन्दवर्धनाचार्य ने तीन प्रकार की "सङ्घटना" के रूप में माना है।

उद्भट ने इन तीनों वृत्तियों में वर्ण के साम्य को वृत्त्यनुप्रास कहा है—

सरूपव्यञ्जनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु।
पृथक्-पृथकानुप्रासमुशन्ति कवयः सदा ॥ (उद्भट)

राजशेखर के अनुसार रीति, वृत्ति, तथा प्रवृत्ति में पार्थक्य है। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) वेषविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः, (२) विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः। (३) वचनविन्यासक्रमो रीतिः।

अर्थात्—राजशेखर के अनुसार वेष का के विन्यास का प्रकार प्रवृत्ति है। विलास का विन्यास वृत्ति है, तथा वचनों का विन्यास क्रम रीति है।

मम्मट यहाँ उद्भट के अनुसार वृत्तियों का वर्णन कर रहे हैं—

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते

माधुर्य व्यञ्जक वर्णों से युक्त वृत्ति उपनागरिका है।

ओजः प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा

ओज के प्रकाशक वर्णों से युक्त वृत्ति परुषावृत्ति है।

कोमला परैः

शेष वर्णों से युक्त वृत्ति कोमला वृत्ति कहलाती है। कोई आचार्य इसी को ग्राम्या वृत्ति भी कहते हैं। ये तीनों वृत्तियाँ वामन आदि के मत में क्रमशः वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली नामक रीतियाँ मानी गई हैं।

लाटानुप्रास—

शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः

शब्द गत यह अनुप्रास लाटानुप्रास कहलाता है। शब्द और अर्थ का अभेद होने पर भी अन्वय (तात्पर्य) मात्र के भेद से और लाट देश के विदग्धों को प्रिय होने से यह लाटानुप्रास कहलाता है।

उदाहरण—

यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य।
यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य॥

जिसके समीप में दयिता नहीं है, उसके लिए (तुहिनदीधिति) चन्द्रमा दावानल के समान है, और जिसके समीप में दयिता है उसके लिए दावानल भी चन्द्रमा के समान (शीतल) होता है।

यहां अनेक पदों की आवृत्ति है, पूर्वार्ध में तुहिनदीधिति में दवदहनत्व विधेय है, और उत्तरार्ध में तुहिनदीधितित्व विधेय है, इसलिए तात्पर्य भेद-उद्देश्य-विधेय भाव के भेद होने से यह लाटानुप्रास है।

(३) यमक—

अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः॥
यमकम्

अर्थ होने पर भिन्नार्थक वर्णों की उसी क्रम से श्रवण, (पुनरावृत्ति) यमक नामक अलङ्कार कहलाता है।

उदाहरण—

नव पलाश पलाश वनं पुरः स्फुटपराग-परागत-पङ्कजम् ।
मृदुलतान्त-लतान्तमलोकयत् स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः ॥

यह पद्य शिशुपालवध महाकाव्य के छठे सर्ग का है—भगवान् श्रीकृष्ण ने सुन्दर सुमनों से भरे हुए वसन्त को देखा, जिसमें पलाश वन नूतन किसलयों से परिपूर्ण था, और कमल पराग से व्याप्त थे, कोमल लतायें फैली हुई थी। यहां पलाश-पलाश और सुरभि-सुरभि इन दोनों जगह पदों की सार्थक आवृत्ति है, और उत्तरार्ध में लतान्त-लतान्त में प्रथम निरर्थक और द्वितीय सार्थक है।

(४) श्लेष—

वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः ।
श्लिष्यन्ति शब्दा यत्रोऽसौ श्लेषः ॥

भिन्न भिन्न अर्थों के बोधक, भिन्न भिन्न शब्द एक साथ उच्चारण के कारण, जब परस्पर मिल जाते हैं तब वह श्लेष अलंकार होता है।

उदाहरण—

विधौ वक्रे मूर्ध्नि स्थितवति वयं के पुनरमी।

समस्त देवताओं के मान्य गुरु शिवजी की भी (बाल) टेड़े (चन्द्रमा) (या भाग्य) के मस्तक पर स्थित होने पर जब यह दुरावस्था है, तब (क्षुद्र अत्यन्त तुच्छ) हमारी तो गिनती ही क्या है।

यहां "विधौ" इस शब्द में विधु शब्द चन्द्रमा का वाचक, और विधि शब्द भाग्य का वाचक, दोनों ही प्रविष्ट हैं, विधु और विधि दोनों शब्दों का सप्तमी के एकवचन में विधौ यह रूप बनेगा अतः यहां शब्द श्लेष है।

(५) चित्रालंकार—

तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृति हेतुता।

जहां (जिस ब्रन्ध में) वर्णों की रचना खड्ग आदि की आकृति का हेतु, बने वह चित्र नामक अलंकार है।

उदाहरण—

भासते प्रतिभासार, रसा-भावा-हृता-विभा।
भावितात्मा शुभा वादे देवाभावत ते सभा ॥१॥

हे प्रतिभासार, (अत्यन्त प्रतिभावान् राजन्!) शृङ्गारादि अथवा प्रीति रूप रसों से आपकी सभा अत्यन्त शोभित है। जिसमें आत्मचिन्तन होता है,

या संयमपूर्वक तत्त्वकथा में निपुण होने से आपकी सभा देव सभा की तरह है।

(६) पुनरुक्तवदाभास (उभयालङ्कार)—

पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकार शब्दगा, एकार्थतेव।

विभिन्न स्वरूप के शब्दों में रहनेवाली (समानार्थक न होने पर भी) समानार्थता सी जो प्रतीत होती है वह पुनरुक्तवदाभास नामक अलंकार है। यह अलंकार शब्द, अर्थ व शब्दार्थोभयनिष्ठ है—

उदाहरण—

तनुवपुरजघन्योऽसौ करिकुञ्जररुधिररक्तखरनखरः।
तेजो धाम महः पृथुमनसामिन्द्रो हरिर्जिष्णुः ॥१॥

कृश शरीर (तनुवपु) होने पर भी (अजघन्य) श्रेष्ठ, बड़े श्रेष्ठ हाथियों के रक्त से रंगे हुए तीक्ष्ण नखोंवाला तेज का धाम, यह उदार मनवालों का राजा और सिंह विजयशील है।

इसमें (तनु कुञ्जर, रक्त) इत्यादि कुछ पदों के परिवर्तन कर देने पर यह अलंकार नहीं रहता है, उस अंश में शब्दाश्रित है, और वपुः कटि रुधिर इत्यादि के परिवर्तन कर देने पर भी अलंकार हानि नहीं होती है। इसलिए उस अंश में अर्थनिष्ठ है।

अतः यह उभयालंकार है।

काव्यप्रकाश में शब्दालंकार निरूपण नामक
नवम उल्लास समाप्त हुआ।

दशम उल्लास

अर्थालङ्कार—

अर्थालंकारों का विभाजन कुछ विशेष आधारों पर किया जाता है। जैसा कि नीचे दिखाया जाता है—

(१) सादृश्यमूलक (२) विरोधमूलक (३) शृङ्खलाबन्धमूलक (४) तर्क न्यायमूलक (५) लोकन्यायमूलक (३) वाक्यन्यायमूलक (७) गूढार्थ प्रतीतिमूलक। प्रत्येक वर्ग के मुख्य-मुख्य अलंकारों की विशेषता दिखलाने का प्रयास यहाँ किया जायेगा।

(१) सादृश्यमूलक अलंकार—

ये अलंकार सादृश्य या समानता की कल्पना पर प्रतिष्ठित रहते हैं। किसी अज्ञात वस्तु को समझने या समझाने का सबसे सुन्दर साधन सादृश्य है। सादृश्य के द्वारा हम किसी अज्ञात विषय का ज्ञान किसी व्यक्ति को करा सकते हैं। इस वर्ग के अलंकारों में मुख्य है—उपमा, कविता के उदय के साथ साथ ही उपमा का भी उदय हो गया था।

भारतीय वाङ्मय के निधान वेदों में या वेद मन्त्रों में उपमा अपनी भव्यता, सुन्दरता तथा रमणीयता से पाठकों के मन को मुग्ध करती है।

कविता का तो प्राण ही उपमा है।

अप्पय्यदीक्षित ने उपमा की तुलना एक नटी (शैलूषी) के साथ की है। रंगमञ्च के ऊपर नटी नाना वेशभूषा से सज्जित होकर नाना रूपों में आती है, कभी वह शकुन्तला के रूप में अवतीर्ण होती है, तो कभी किसी अन्यरूप में उपस्थित होती है। उसके बाहरी रूप अनेक हैं, परन्तु आवरण को हटाकर देखा जाए तो एक ही रूप उसका सर्वत्र दिखाई देगा। ठीक यही दशा उपमा की भी है, वह काव्य के रंगमञ्च पर कभी रूपक, कभी दीपक, कभी दृष्टान्त के रूप में आकर पाठकों का मनोरञ्जन करती है।

उपमैका शैलूषी संप्राप्ता चित्रभूमिका भेदान्।
रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः॥ (चित्र मी०)

सादृश्य की कल्पना का विवर्त अन्यान्य अलंकारों का आभास है। जैसा कि चित्रमीमांसाकार अप्पय्यदीक्षित का कहना है—

चन्द्र इव मुखमिति सादृश्यवर्णनं तावदुपमा ।
सैवोक्तिभङ्गीभेदेनानेकालंकारभावं भजते ॥

तथाहि—चन्द्रइव मुखं मुखमिव चन्द्रः इत्युपमेयोपमा मुखं मुखमिव इत्यन्वयः । मुखमिव चन्द्र इति प्रतीपम् । मुखचन्द्रेण तापः शाम्यति, इति परिणामः । किमिदं मुखमुताहो चन्द्रः इति सन्देहः, चन्द्र इति चकोरादनन्मुख-मनुधावन्ति, चन्द्रोऽयं न मुखम् इत्यपह्नुयः, नूनं चन्द्रः इत्युत्प्रेक्षा चन्द्रोऽयम्, इत्यतिशयोक्तिः, इत्यादि उक्तानेकालंकारविवर्तवतीयमुपमा ।

तदिदं चित्रं विश्वं ब्रह्मज्ञानादिवोपमाज्ञानात् ।
ज्ञातं भवतीत्यादौ निरूप्यते निखिलभेदसहिता सा ॥

इस प्रकार सभी अलंकार विवर्त्तों की अधिष्ठानभूता यह उपमा है । जिस प्रकार ब्रह्मज्ञान से विश्व ज्ञात हो जाता है, ज्ञातव्य और कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह जाता है,इसी प्रकार एक उपमा के ज्ञान से सारा अलंकार वर्ग ज्ञात हो जाता है ।

आचार्य मम्मट के अनुसार उपमा अलंकार का लक्षण इस प्रकार है—

"साधर्म्यमुपमा भेदे"

भेदे (उपमानोपमेययोः) भेदे सति साधर्म्यम् उपमा । समानः, एक, तुल्यो वा धर्मो गुणक्रियादिरूपो ययोः ॥

अर्थात्—उपमानोपमेययोः, तौ सधर्माणौ तयोर्भावः साधर्म्यम् । उपमानोपमेययोः समानधर्मेण सह सम्बन्धः, उपमा इति सूत्रार्थः ।

उदाहरणम्—चन्द्रइव मनोज्ञं मुखम् ।

अर्थात्—उपमा अलंकार में (१) उपमान (२) उपमेय (३) साधारण धर्म (४) उपमा वाचक शब्द इन चार पदार्थों का उपयोग होता है, दो सदृश पदार्थों में प्रायः अधिक गुणवाला पदार्थ उपमान होता है, और न्यून गुणवाला पदार्थ उपमेय होता है । "मुख" चन्द्रमा के समान सुन्दर है । यहाँ अधिक गुणवत्तया सम्भावित चन्द्रमा उपमान है, और न्यून गुणवत्तया सम्भावित मुख उपमेय है ।

सौन्दर्य या मनोज्ञत्व उन दोनों में रहने वाला साधारण धर्म है और यथा इव इत्यादि शब्द उपमा के वाचक शब्द होने हैं । इस प्रकार उपमान और उपमेय के समान धर्म के सम्बन्ध का वर्णन ही उपमा अलंकार कहलाता है ।

परन्तु उपमा अलंकार में उपमान तथा उपमेय में भेद होना आवश्यक है । अन्यथा "राम रावणयोर्युद्ध रामरावणयोरिव" इत्यादि अनन्वयालंकार में भी

सादृश्य का वर्णन होने से लक्षण की अतिव्याप्ति हो सकती है। इसलिए उपमा के लक्षण में भेद पद देना आवश्यक है अनन्वय में उपमान और उपमेय भिन्न नहीं रहते हैं। अतः "भेदे सति उपमानोपमेययोः साधर्म्यमुपमा", ऐसा लक्षण करने से अनन्वयालंकार में लक्षण की व्याप्ति नहीं होती है।

यह उपमा पूर्णोपमा और लुप्तोपमा के भेद से दो प्रकार की होती है।

उपमान, उपमेय, साधारण, और उपमावाचक इवादि पद, इन चारों का ग्रहण होने पर पूर्णा उपमा होती है, और इन चारों में से एक या दो या तीन का लोप होने पर लुप्तोपमा कहलाती है।

पूर्णोपमा के छः भेद—

पूर्णोपमा—प्रथम श्रौती और आर्थी के भेद से दो प्रकार की होती है। यह दोनों श्रौती तथा आर्थी उपमा वाक्यगत, समासगत तथा तद्धितगत होने से छः प्रकार की होती है—

श्रौती उपमा—जहाँ उपमान के बाद उपमा वाचक—यथा, इव वा इत्यादि शब्द आयें, वहाँ श्रौती उपमा होती है। यद्यपि ये उपमा वाचक शब्द यथा इव वा, उपमान के विशेषण बनकर आते हैं, परन्तु (शब्द शक्ति की महिमा से) सुनते ही श्रवणमात्र से साधारण धर्म के सम्बन्ध रूप सादृश्य का भी बोध करा देते हैं। श्रवणमात्र से सम्बन्ध का बोध करा देने से "श्रौती उपमा" कहते हैं "तत्र तस्येव" इस सूत्र से इवार्थ में विहित वति प्रत्यय में तद्धितगा श्रौती उपमा होती है।

आर्थी उपमा—जहाँ तुल्य, सदृश, संकाश आदि उपमावाचक शब्द कभी उपमान के साथ कभी उपमेय के साथ या कभी दोनों के साथ अन्वित होते हैं, वहाँ आर्थी उपमा होती है ये उपमा वाचक तुल्य, सदृश, निभ, इत्यादि शब्द यद्यपि साक्षात् सादृश्य के वाचक होते हैं न कि साधारण धर्म रूप सम्बन्ध विशेष साम्य या साधर्म्य के पर अर्थ के पर्यालोचन के बाद उक्त सम्बन्ध की भी प्रतीति कराते हैं, इसलिए इनके प्रयोग में आर्थी उपमा होती है, और "तेन तुल्यक्रियाचेद्वति" इस सूत्र से विहित वति प्रत्यय होने पर तद्धितगा आर्थी उपमा होती है।

यह उभयविध पूर्णोपमा—वाक्यगत, तद्धितगत तथा समासगत होने से छः प्रकार की होती है।

श्रौती वाक्यगा पूर्णोपमा का उदाहरण—

स्वप्नेऽपि समरेषु विजयश्रीस्त्वां न मुञ्चति ॥
प्रभावप्रभवं कान्तं स्वाधीनपतिका यथा ॥१॥

यहाँ स्वाधीनपतिका उपमान है, विजयश्री उपमेय है, न मुञ्चति (अपरित्याग) साधारण धर्म है, यथा—

यह उपमा प्रतिपादक शब्द है। असमस्त यह वाक्य यथा शब्द द्वारा उपमा का प्रतिपादन होने से यह वाक्यगा श्रौती उपमा है।

आर्थी वाक्यगा पूर्णोपमा का उदाहरण—

चकितहरिणलोललोचनायाः क्रुधि तरुणारुणतारहारिकान्ति।
सरसिजमिदमाननं च तस्याः सममिति चेतसि संमदं विधत्ते ॥

यहाँ सरसिज उपमान है आनन उपमेय है, अरुणसदृश कान्तिमत्व साधारण धर्म है। सम शब्द उपमा प्रतिपादक है। यहाँ "सरसिजमाननं च समम्" इस पर सर्व प्रथम 'सादृश्यवदभिन्नमिदं द्वयं, यह बोध होता है, पश्चात् अर्थ पर्य्यालोचन से या व्यञ्जना से परस्पर निरूपित साधारण धर्म सम्बन्ध की प्रतीति होती है। अतः यह वाक्यगा आर्थी पूर्णोपमा है।

श्रौती समासगा पूर्णोपमा का उदाहरण—

अत्यायतैर्नियमकारिभिरुद्धताना दिव्यैः प्रभाभिरनपायमयैरुपायैः।
शौरिर्भुजैरिव चतुर्भिरदः सदा यो लक्ष्मीविलासभवनैर्भुवनं बभार ॥

श्रीकृष्ण जिस प्रकार (विष्णुरूप में अपनी) चार भुजाओं से संसार को धारण करते हैं, उसी प्रकार यह राजा भी (साम दान दण्ड भेद रूप) चार उपायों से सदा संसार का पालन करता था। यहाँ भुजैः उपमान है, और उपायैः उपमेय है।

आयतत्वादि साधारण धर्म तथा इव उपमा प्रतिपादक शब्द है। "**इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपश्च पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च**" इस वार्तिक से भुजैः इस उपमान वाचक पद के साथ 'इव' इस उपमा वाचक पद का नित्य समास होने से यह समासगा श्रौती पूर्णोपमा का उदाहरण है।

आर्थी समासगा पूर्णोपमा का उदाहरण—

अवितथमनोरथपथप्रथनेषु प्रगुणगरिमगीतश्रीः।
सुरतरुसदृशः स भवानभिलषणीयः क्षितीश्वर न कस्य ॥

अव्यर्थ मनोरथ मार्गों के विस्तार में प्रकृष्ट गुण गरिमा के कारण जिसकी समृद्धि प्रसिद्ध है, इसलिए कल्पवृक्ष के समान है।

हे राजन् ? आप किसकी अभिलाषा के विषय नहीं हैं! इसमें सुरतरु उपमान, क्षितीश्वर उपमेय, प्रगुणगरिमगीतश्रीत्व साधारण धर्म है, सदृश

उपमावाचक शब्द है। सुरतरुसदृश में उपमान तथा उपमावाचक पदों का समास होने से यह समासगा आर्थी पूर्णोपमा है।

तद्धितगा श्रौती तथा आर्थी पूर्णोपमा का उदाहरण—

गाम्भीर्यगरिमा तस्य सत्यं गङ्गाभुजङ्गवत्।
दुरालोकः स समरे निदाघाम्बररत्नवत् ॥१॥

उस राजा के गाम्भीर्य की गरिमा सचमुच समुद्र के समान है। युद्ध भूमि में ग्रीष्मकाल के सूर्य के समान वह बड़ी कठिनाई से देखा जा सकता है।

यहाँ पूर्वार्ध में गङ्गाभुजङ्ग अर्थात् समुद्र उपमान है, तस्य उपमेय है, गाम्भीर्य गरिमा साधारण धर्म हैं, "गङ्गाभुजङ्गस्य इव इति गङ्गाभुजङ्गवत्" इस विग्रह में "तत्र तस्यैव" इस सूत्र द्वारा इवार्थ में वति प्रत्यय है। अतः यहां तद्धितगा श्रौति पूर्णोपमा है।

उत्तरार्ध में निदाघाम्बर रत्न उपमान है, सः उपमेय है, दुरालोकत्व साधारण धर्म है तथा "निदाघाम्बर रत्नवत्" में निदाघाम्बर रत्नेन तुल्यं इति निदाघाम्बर रत्नवत्" इस विग्रह में "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वति" इस सूत्र द्वारा तुल्यार्थ में वति प्रत्यय होने से तद्धितगा आर्थी पूर्णोपमा है।

लुप्तोपमा—

पूर्णोपमा में उपमान, उपमेय, साधारण धर्म तथा उपमावाचक शब्द ये चारों शब्दतः उपात्त होते हैं, इस प्रकार उपमा की सारी सामग्री शब्दतः उपस्थित होने के कारण ही इसको पूर्णोपमा कहते हैं।

लुप्तोपमा में यह सारी सामग्री शब्दतः उपात्त नहीं होती हैं, उपमान आदि चारों में से किसी न किसी का लोप अवश्य रहता है, इसलिए इसे लुप्तोपमा कहा जाता है। काव्यप्रकाश में लुप्तोपमा के १६ भेद दिखलाये हैं, जो इस प्रकार हैं—

विभाजक हेतु	**नाम**	**उदाहरण**
धर्म लुप्ता	१. समासगता-श्रौती	वाचः सुधा इव।
साधारण धर्म के लोप	२. वाक्यगता- ,,	मुखमिन्दुर्यथा।
होने पर	३. तद्धितगता-आर्थी	मनोश्मवत्।
५	४. समासगता- ,,	ओष्ठस्ते बिम्बतुल्यः।
	५. वाक्यगता- ,,	पल्लवेन समः पाणिः।

वाचकलुप्ता	१. समासगा	कामिनी गण्डपाण्डुना ।
६	२. कर्मणः क्यचि	सुतमिवाचरति सुतीयति ।
	३. आधारात् क्यचि	अन्तःपुरे इवाचरति अन्तःपुरीयति ।
	४. क्यङि् कर्त्तरि	नारी इव आचरति नारीयते ।
	५. कर्मणि णमुलि	निदाघधर्मांशुदर्शं पश्यति
	६. कर्तरि णमुलि	पार्थ सञ्चारं सञ्चरति ।
उपमान लुप्ता	१. वाक्यगा	तस्या मुखेन सदृशं रम्यं नास्ते ।
२	२. समासगता	न वा नयनतुल्यं रम्यमास्ते ।
साधारण धम व वाचक के लोप में	१. क्वप्प्रत्ययगा	विधवति मुखब्जमस्याः ।
२	२. समासगता	मुखाब्जमस्याः ।
धर्म व उपमान के लोप में २	१. समासगता	लोकेन वा नयनतुल्यमास्ते ।
	२. वाक्यगा	तस्या मुखेन सदृशं नास्ते ।
वाचक तथा उपमेय के लोप में १	१. कर्मणः क्यचि	सहस्रायुधीयति ।
उपमान वाचक शब्द व सामान्य धर्म तीनों के लोप होने पर १	१. समासगता	राजते मृगलोचना ।

इस प्रकार लुप्तोपमा के १९ भेद होते हैं,

अनन्वयालङ्कार—

एक ही वाक्य में एक ही के उपमान तथा उपमेय होने पर अनन्वय नामक अलङ्कार होता है।

उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे ।

अनन्वयः.......... ।

उदाहरणम्—

राम रावणयोर्युद्धं राम रावणयोरिव ।

उपमेयोपमा—

विपर्यास उपमेयोपमा तयोः ॥

उन दोनों (अर्थात् उपमान और उपमेय) का परिवर्तन हो जाना (उपमान का उपमेय, और उपमेय का उपमान रूप में वर्णन) उपमेयोपमा नामक अलङ्कार होता है।

उदाहरण—

"कमलेव मतिर्मतिरिव कमला"

यहाँ प्रथम कमला उपमान मति उपमेय है, द्वितीय बार मति उपमान और कमला उपमेय है।

उत्प्रेक्षा—

सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् ।

प्रकृत-वर्ण्य उपमेय की सम (उपमान) के साथ सम्भावना (अर्थात् उत्कट एक कोटिक सन्देह) उत्प्रेक्षा कहलाती है।

उदाहरण—

लिम्पतीव तमोङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुष सेवेवदृष्टि विफलतां गता ॥

इस पद्य में तम अन्धकार का व्यापन आदि उपमेय की लेपनादि उपमान रूप से सम्भावना की गई है।

ससन्देह—

ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च सशयः ।

उपमेय का उपमान के साथ समान कोटिक संशय होने पर सन्देह नामक अलंकार होता है। यह एकत्र भेद कथन तथा अपरत्र भेद के अकथन से दो प्रकार का होता है।

उदाहरण—

उपमान व उपमेय दोनों का भेद कथन—

अयं मार्तण्डः किं ? स खलु तुरगैः सप्तभिरितः।

यह (राजा) सूर्य है क्या ? (यह संशय हुआ,) परन्तु सूर्य तो सात घोड़ों से युक्त होता है, (यह भेद कथन है)।

भेद की अनुक्ति अकथन—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः।

इस (नायिका) के निर्माण में क्या कान्ति को देने वाला चन्द्रमा ही प्रजापति बना था, अर्थात् क्या स्वयं चन्द्रमा ने अपनी कान्ति से इसका निर्माण किया है।

इस पद्य में उर्वशी के निर्माण में प्रकृत प्रजापतिरूप उपमेय में चन्द्रमदन वसन्तादि नाना कोटिक अप्रकृत उपमानों का सन्देह है, अतः यह सन्देहालङ्कार है।

रूपकालङ्कार—

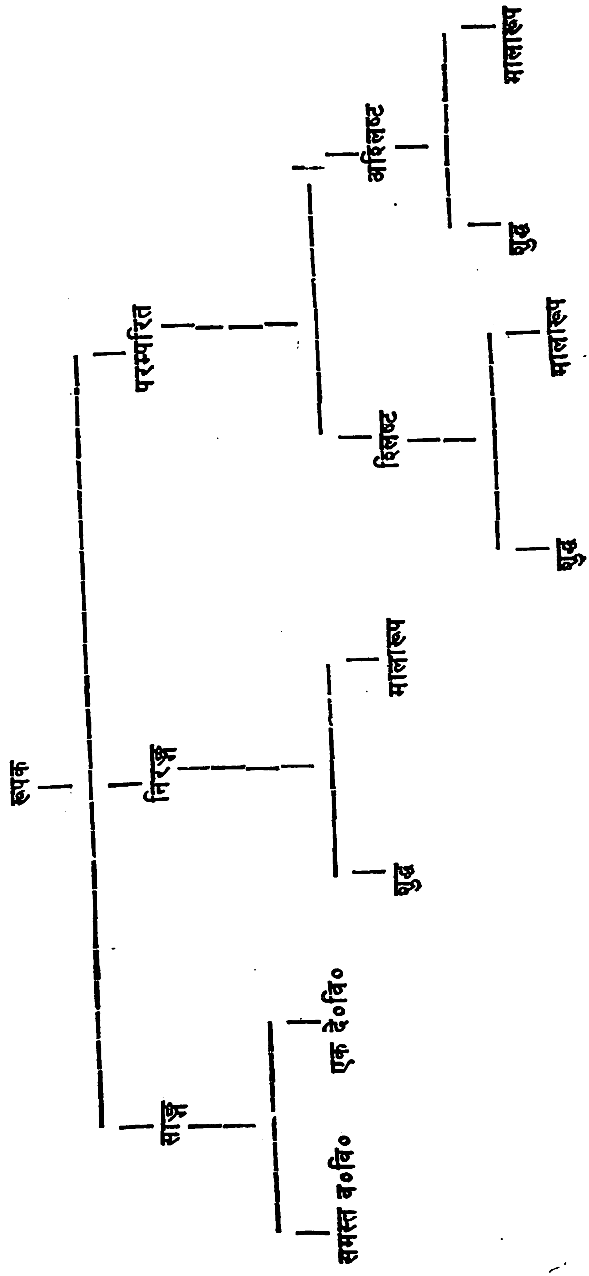
तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः।

उपमान और उपमेय (जिसका भेद प्रसिद्ध है, उनका सादृश्यातिशय) का जो अभेद वर्णन है वह रूपक नामक अलङ्कार है।

उदाहरण—

"विद्वन्मानसहंस"

हे राजन् आप विद्वानों के मनरूपी मानसरोवर के हंस हैं। यहाँ मन में मानसरोवर का तथा राजा में हंस का आरोप किया गया गया है। रूपक के भेद इस प्रकार हैं—


रूपक
साङ्ग
समस्त व०वि०
एक दे०वि०
निरङ्ग
शुद्ध
मालारूप
परम्परित
श्लिष्ट
शुद्ध
मालारूप
अश्लिष्ट
शुद्ध
मालारूप

अपह्नुति—

प्रकृतं यन्निसिध्यान्यत् साध्यते सा त्वपह्नुतिः ॥

प्रकृत (उपमेय) का निषेध करके जो अन्य (उपमान) की सिद्धि की जाती है, वह अपह्नुति नामक अलङ्कार कहलाता है।

अर्थात्—उपमेय को असत्य करके उपमान को ही सत्य रूप से स्थापित किया जाय तो अपह्नुति अलंकार होता है।

उदाहरण—

अवाप्तः प्रागल्भ्यं परिणतरुचः शैलतनये !
कलङ्को नैवायं विलसति शशाङ्कस्य वपुषि ॥
अमुष्येयं मन्ये विगलदमृतस्यन्दशिशिरे ।
रतिःश्रान्ता शेते रजनिरमणी गाढमुरसि ॥

हे पार्वती, (शैलतनये) परिपूर्ण चन्द्रमा के शरीर में प्रगल्भता को प्राप्त यह कलंक नहीं दिखाई देता है, बल्कि ऐसा प्रतीत होता है कि इसके अमृत के प्रवाह से शीतल वक्षःस्थल पर रति से श्रान्त हुई रात्रिरमणी (सुख निद्रा में) सो रही है।

यहाँ उपमेय कलङ्क का निषेध करके उपमानभूत रात्रिरमणी की स्थापना की गई है।

"कलङ्को नैवायं" कहकर शब्दतः उपमेय का निषेध किया गया है; इसलिए यह शाब्दी अपह्नुति है। कहीं-कहीं यह निषेध शब्दतः न होकर अर्थात् भी आक्षिप्त होता है।

अर्थश्लेष—

श्लेषः स वाक्ये एकस्मिन् यत्रानेकार्थता भवेत् ।

एक वाक्य में एकार्थ प्रतिपादक शब्दों के जहाँ अनेक अर्थ होते हैं, वह शब्दपरिवृत्ति सह होने के कारण अर्थश्लेष नामक अलङ्कार होता है।

उदाहरण—

वत वत लसत्तेज पुञ्जो विभाति विभाकरः ।

इस पद्य में विभाकर नामक राजा की सूर्य के साथ तुलना करते हुए स्तुति की गई है। विभाकर यह शब्द विभाकर नामक राजा तथा सूर्य दोनों का वाचक है। इसके स्थान पर कोई पर्यायवाचक शब्द के रख देने से उक्त अर्थ श्लेष नहीं बनेगा, अतः इस अंश में शब्द श्लेष है, शेष अंश में शब्दों के परिवर्तन कर देने पर भी अर्थ श्लेष में कोई हानि नहीं है।

यहाँ अभिधा का नियन्त्रण नहीं होने से विभाकर शब्द से सूर्य तथा राजा दोनों अर्थ वाच्य ही हैं।

समासोक्ति—

परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः।

श्लेषयुक्त विशेषणों के द्वारा अप्रकृत का कथन समासोक्ति नामक अलङ्कार है।

अर्थात्—प्रकृत अर्थ के प्रतिपादक वाक्य के द्वारा श्लेषयुक्त विशेषणों के प्रभाव से, न कि विशेष्य पद के सामर्थ्य से जो अप्रकृत अर्थ का कथन है, वह समास से संक्षेप से प्रकृत तथा अप्रकृत दोनों का कथन होने से समासोक्ति अलंकार होता है।

उदाहरण—

लब्ध्वा बाहुस्पर्शं यस्याः स कोऽप्युल्लासः।
जयलक्ष्मीस्तव विरहे न खलूज्वला दुर्बला ननु सा॥

तुम्हारे बाहुस्पर्श को पाकर, जिसको अनिर्वचनीय प्रसन्नता होती थी, वह जयलक्ष्मी तुम्हारे वियोग में प्रसन्न नहीं है। निश्चय ही दुर्बल हो गई है।

यहाँ केवल (विशेष्य वाचक) जयलक्ष्मी शब्द अप्रकृत कान्तारूप अर्थ का वाचक नहीं है। अपितु श्लेषयुक्त विशेषणों के द्वारा जयलक्ष्मी शब्द नायिका का बोधक भी होता है।

रूपक अलंकार में प्रकृत पर अप्रकृत विशेष्य का आरोप होता है, और समासोक्ति में प्रकृत व्यवहार में अप्रकृत व्यवहार का आरोप होता है। यही रूपक और समासोक्ति में भेद है।

निदर्शना—

अभवन् वस्तु सम्बन्ध उपमापरिकल्पकः॥

जहाँ वस्तु का असम्भव या अनुपपद्यमान सम्बन्ध उपमा में पर्यवसित होता है, वह निदर्शना नामक अलङ्कार होता है।

निदर्शन अर्थात् दृष्टान्त बनाने वाला, उपमा परिकल्पक होने से निदर्शना यह सार्थक संज्ञा है।

उदाहरण—

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥

कहाँ तो सूर्य से उत्पन्न वंश (रघुवंश) और कहाँ क्षुद्रविषयों में संचरणशील मेरी बुद्धि, इन दोनों में महान् अन्तर है, अर्थात् इतने बड़े सूर्य वंश का वर्णन मेरी क्षुद्र मति के द्वारा असम्भव है। तथापि मेरा यह सूर्य वंश के वर्णन का साहस, अज्ञानवश छोटी सी नौका से दुस्तर समुद्र को पार करने की तरह है।

इस पद्य में पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के वाक्यों का उपमानोपमेयभाव पर्यवसित होता है, इसलिए यह वाक्यार्थ निदर्शना है, यहाँ निदर्शना का आकार इस प्रकार है—"मेरी बुद्धि के द्वारा सूर्य वंश का वर्णन, छोटी सी नौका से सागर पार करने के समान है," वाक्यार्थ इस उपमा में पर्यवसित होता है।

अप्रस्तुतप्रशंसा—

अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया।

अप्राकरणिकस्याभिधानेन प्राकरणिकस्याक्षेपोऽप्रस्तुतप्रशंसा—

अप्राकरणिक अर्थ के कथन से जो प्राकरणिक अर्थ का आक्षेप है वहां अप्रस्तुतप्रशंसा है।

कहीं-कहीं वाच्यार्थ पर प्रतीयमान अर्थ के अध्यारोप से भी अप्रस्तुत प्रशंसा नामक अलंकार होता है।

उदाहरण—

कस्त्वं भो! कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकम्।
वैराग्यादिव वक्षि साधु विदितं, कस्मादिदं कथ्यते॥
वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते।
नच्छायाऽपि परोपकारकरणे मार्गस्थितस्यापि मे॥

अरे तू कौन है? बतलाता हूँ कि मुझको अभागा शाखोटक (श्मशान की अग्नि से जले हुए पत्ते आदि से रहित सिहोरा का वृक्ष) समझो।

कुछ वैराग्य से यह बात कह रहे हो, (ऐसा प्रतीत होता है) आपने ठीक समझा।

प्रश्न—ऐसा क्यों कह रहे हो?

उत्तर—यह बायीं ओर बड़ का पेड़ है, पथिक लोग उसका ही सब तरह से आश्रय लेते हैं, और मैं मार्ग में खड़ा हुआ हूँ, फिर भी मेरे पास परोपकार करने के लिए (फल आदि तो दूर रहे) छाया भी नहीं है, इसलिए मैं अपने को अभागा कहकर अपना परिचय दे रहा हूँ।

यहाँ इस अप्रस्तुत वाच्य से किसी ऐसे प्रस्तुत व्यक्ति की प्रतीति हो रही है, जो किसी न किसी प्रकार से दूसरों की सहायता करने के लिए उत्सुक है, परन्तु या तो वह धनादि से हीन हो गया है अथवा नीच जाति का है, जिसकी सेवा लोग पसन्द नहीं करते, इसलिए वह न सहायता कर पाता है, और न लोग उसकी सहायता ही स्वीकार करते हैं, इसलिए वह दुःखी है।

यहाँ शाखोटक वृक्ष के साथ वार्तालाप सम्भव नहीं है, इसलिए उस वाच्यार्थ के ऊपर प्रतीयमान नीच जाति अथवा धनहीन दाता आदि प्रतीयमान अर्थ का आरोप करके ही अर्थ की सङ्गति होती है। इसलिए यह अध्यारोप-मूलक अप्रस्तुतप्रशंसा है।

अतिशयोक्ति—

निगीर्याध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत्।
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्॥
कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः।
विज्ञेयाऽतिशयोक्तिः सा।

प्रकृत (उपमेय) का (परेण) उपमान के द्वारा निगरण करके जो (आहार्य अभेद निश्चय-कल्पित) अभेद कथन रूप अध्यवसान् है, वह प्रथम अतिशयोक्ति है।

प्रस्तुत अर्थ का अन्यरूप से वर्णन द्वितीय अतिशयोक्ति है। यदि के समानार्थक शब्द द्वारा कल्पना करना तृतीय प्रकार की अतिशयोक्ति है, और कार्यकारण का जो पौर्वापर्य विपर्यय है वह चतुर्थ प्रकार की अतिशयोक्ति है।

उदाहरण—

कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम्।
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम्॥

किसी सुन्दरी को देखकर किसी का कथन है—

बिना जल के कमल (नायिका का मुख) कमल में दो नील कमल (नेत्र) और वे सोने की लता में लगे हुए हैं, और वह सोने की लता (नायिका का शरीर) सुकुमार तथा सुन्दर है, यह कैसी अनर्थ परम्परा है।

यहाँ उपमान रूप कमल आदि के द्वारा उपमेयभूत मुख, नयन, शरीर का निगरण करके, कमल आदि से अभेद निश्चय (अध्यवसान) किया गया है, इसलिए यह प्रथम अतिशयोक्ति या अतिशयोक्ति सामान्य का उदाहरण है।

प्रतिवस्तूपमा—

प्रतिवस्तूपमा तु सा।
सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यं द्वये स्थितिः।

जहाँ एक ही साधारण धर्म को दो वाक्यों में दो बार (भिन्न-भिन्न शब्दों (से कहा जाय वह प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार होता है।

उदाहरण—

देवीभावंगमिता परिवारपदं कथं भजत्वेषा।
न खलु परिभोगयोग्यं दैवतरूपाङ्कितं रत्नम् ॥

इस पद्य में उत्तरार्ध का वाक्यार्थ उपमानरूप है तथा पूर्वार्ध का वाक्यार्थ उपमेयरूप है। इसलिए वस्तु अर्थात् वाक्यार्थ के उपमान उपमेय होने से, उनके एक ही अनौचित्य रूप धर्म को पूर्वार्ध में "कथं भजतु" पदों से तथा उत्तरार्ध में "न खलु परिभोगयोग्यम्" इन पदों से कहा गया है। अतः यह प्रतिवस्तूपमा अलंकार है।

दृष्टान्त—

दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिविम्बनम् ॥

इन उपमान उपमेय और उनके विशेषण व साधारण धर्म आदि का भिन्न होते हुए भी औपम्य प्रतिपादनार्थ उपमानवाक्य तथा उपमेयवाक्य में पृथक् उपादानरूप (विम्बप्रविम्बभाव) होने से दृष्टान्तालङ्कार होता है।

उदाहरण—

त्वयि दृष्ट एव तस्या निर्वाति मनो मनोभवज्वलितम्।
आलोके हि हिमांशोर्विकसति कुसुमं कुमुद्वत्याः ॥

यहाँ नायक तथा चन्द्रमा का नायिका तथा कुमुदिनी का और मन तथा कुसुम का मनोभव सन्तप्त तथा सूर्यसन्तप्त का निर्वाण तथा विकास का विम्बप्रतिविम्बभाव होने से दृष्टान्तालंकार है।

दीपकालङ्कार—

सकृद् वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ॥

प्रकृत उपमेय प्राकरणिक तथा अप्रकृत उपमान अप्राकरणिक के क्रियादि रूप धर्मों का एक ही बार ग्रहण किया जाय, या बहुत सी क्रियाओं में एक ही कारक का ग्रहण किया जाय तो दीपकालङ्कार होता है।

उदाहरण—

कृपणानां धनं नागानां फणमणिः केसराःसिंहानाम्।
कुलबालिकानां स्तनाः कुतः स्पृश्यन्तेऽमृतानाम् ॥

कृपणों के धन, सर्पों के फणकी मणि, सिंहों के केसर और कुलीन बालिकाओं के स्तनों को उनके जीते जी कैसे छुआ जा सकता है।

यहाँ "स्पृश्यन्ते" यह एक क्रियापद है, इसी के साथ धन, फणमणि, केशर और स्तन आदि अनेक कारिकों का सम्बन्ध होने से यह क्रिया दीपक का उदाहरण है।

तुल्ययोगिता—

नियतानां सकृद् धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता ।

नियत (केवल) प्रकृत या अप्रकृत का एक धर्म के साथ सम्बन्ध होने पर तुल्ययोगिता नामक अलंकार होता है।

उदाहरण—

पाण्डु क्षामं वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः ।
आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि ! हृदन्तः ।।

हे सखि ! तेरा पीला पड़ जाना, सूखा चेहरा, स्नेह से भरा हुआ हृदय और अलसाया हुआ शरीर तेरे हृदय के असाध्य रोग को सूचित करता है।

यहाँ विरह के अनुभावरूप में मुख की पाण्डुता तथा क्षामता, हृदय की सरसता तथा शरीर की अलसता आदि ये सभी वर्ण्य या प्रकृत अर्थ हैं। उनके साथ आवेदयति, रूप एक क्रिया का सम्बन्ध है, इसलिए यह तुल्ययोगिता अलंकार है।

व्यतिरेक—

उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः ।

उपमान से अन्य उपमेय का जो आधिक्य (का वर्णन) वह ही व्यतिरेक अलङ्कार होता है।

उदाहरण—

जन्मसिन्धु पुनि बन्धु विष, दिन मलीन सकलंक ।
सिय मुख समता पाव किमि चंद बापुरो रंक ।।

क्षीरसागर से समुत्पन्न, कुमुदबन्धु, दिन में मलीन रहने वाला सकलङ्क बेचारा चाँद, क्या सीता जी के मुख की तुलना कर सकता है ?

यहाँ उपमान चन्द्र से सीता जी के मुख का आधिक्य वर्णन होने से व्यतिरेकालङ्कार है।

अर्थान्तरन्यास—

सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ।।

सामान्य अथवा विशेष का उससे भिन्न (अर्थात् सामान्य का विशेष के द्वारा या विशेष का सामान्य) के द्वारा जो समर्थन किया जाता है वह अर्थान्तरन्यास अलंकार, साधर्म्य तथा वैधर्म्य से होता है।

उदाहरण—

निजदोषावृतमनसामतिसुन्दरमेव भाति विपरीतम् ।
पश्यति पित्तोपहतः शशि शुभ्रं शङ्खमपि पीतम् ।।

अपने ही दोष से जिनका मन व्याप्त हो रहा है, उसको अत्यन्त सुन्दर वस्तु भी (विपरीत) बुरी जान पड़ती है, पित्त से पीड़ित (पाण्डु या कामला रोग से ग्रस्त पुरुष) को चन्द्रमा के समान शुभ्र शङ्ख भी पीला दिखलाई देता है यहां अपने मन में दोष होने पर अच्छी बात भी बुरी मालूम होती है—इस सामान्य सिद्धान्त का समर्थन "पीलिया के रोगी को शङ्ख भी पीला दिखलाई देता है" इस विशेष उदाहरण के द्वारा किया गया है, यह साधर्म्य द्वारा विशेष से सामान्य के समर्थन का उदाहरण है ।

वैधर्म्य द्वारा विशेष का समर्थन—

अहो हि मे बह्वपराद्धमायुषा यदप्रियं वाच्यमिदं मयेदृशम् ।
त एव धन्याः सुहृदः पराभवं जगत्य दृष्ट्वैव हि ये क्षयं गताः ।।

अरे मेरी लम्बी आयु ने यह बड़ा अपराध किया है कि जिससे मुझे इस प्रकार का (सुहृद विनाश का) अप्रिय समाचार कहना पड़ रहा है, वे ही वास्तव में धन्य हैं जो संसार में सुहृदय के पराभव को देखे बिना ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं ।

यहाँ सामान्य से विशेष का वैधर्म्य से समर्थन किया गया है ।

विरोधमूलक अलङ्कार

विरोध या विरोधाभास—

विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः ।

वास्तव में विरोध न होने पर भी, जो दो विरुद्धों का कथन करना है, वह विरोध या विरोधाभास नामक अलङ्कार होता है ।

उदाहरण—

इयं विशालाऽपि च भूरिशाला विराजते संस्कृतपाठशाला ।

यहाँ 'विगताः शालाः यस्यां सा' इत्यादि विग्रह से जहां शाला ही नहीं, यहां भूरि बहुत शालायें भवन कैसे होंगे, इस आपाततः प्रतीयमान विरोध का परिहार विशाला बहुत बड़ी इस अर्थ से हो जाता है ।

अथवा

"वा मुख की मधुराई कहा कहो, मीठी लगै अंखियान लुनाई",

यहां आंखों की लुनाई (नमकीनपना) को मीठा बताया है, विरोध स्पष्ट है, परन्तु यहां लुनाई का दूसरा अर्थ है लावण्य—सुन्दरता, इससे इसका परिहार हो जाता है ।

विभावना—

क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना ।

क्रियतेऽनयेति क्रिया इस व्युत्पति के अनुसार यहां क्रिया शब्द का अर्थ हेतु या कारण है ।

हेतु रूप क्रिया का निषेध होने पर भी फल (कार्य) की उत्पत्ति विभावना नामक अलंकार है।

उदाहरण—

कुसुमित लताभिरहताऽप्यधत्तरुजमलिकुलैरदष्टाऽपि ।
परिवर्त्तते स्म नलिनी लहरीभिरलोलिताऽप्यघूर्णत सा ॥

खिली हुई लताओं से ताड़ित न होने पर भी (वह नायिका) पीड़ा को प्राप्त हो रही थी, भ्रमर कुल से न काटे जाने पर भी तड़प रही थी, और कमलिनियों से युक्त लहरों के चक्कर में पड़े बिना भी वह चक्कर खा रही है।

यहां लताओं का ताडनादि पीडादि में हेतु हो सकता है, परन्तु उन कारणों के निषेध करने पर भी कार्य का प्रकाशन किया गया है, इसलिए यह विभावना नामक अलङ्कार है।

विशेषोक्ति—

विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः ।

सम्पूर्ण कारणों के होने पर भी फल का (कार्य का) न कहना विशेषोक्ति अलंकार होता है।

उदाहरण—

कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने ।
नमोऽस्त्ववार्य वीर्याय तस्मै मकर-केतवे ॥

जो (कामदेव) कपूर के समान भस्म हो जाने पर भी जन जन में शक्तिमान् हो गया हैं, उस अप्रत्याहत पराक्रम वाले कामदेव को नमस्कार है।

यहां भस्म हो जाना शक्ति के क्षय में कारण है, परन्तु इस कारण के रहते हुए भी शक्तिक्षय रूप कार्य का अभाव होने से यह विशेषोक्ति अलंकार है।

असङ्गति—

भिन्नदेशतयात्यन्तं कार्यकारणभूतयोः ।
युगपद्धर्मयोर्यत्र ख्याति सा स्यादसङ्गतिः ॥

जहां कार्यकारण वस्तुभूत दो धर्मों की किसी विशेषता के कारण भिन्न देश में एक साथ प्रतीति होती है उन दोनों की स्वभाव जन्य परस्पर सङ्गति के त्याग देने से असङ्गति अलंकार होता है।

उदाहरण—

यस्यैव व्रणस्तस्यैव वेदना भणति तज्जनोऽलीकम् ।
दन्तक्षतं कपोले बध्वाः वेदना सपत्नीनाम् ।

जिसके घाव होता है उसी को वेदना होती है, (यह बात जो लोग कहते हैं) यह सब झूठ है। क्योंकि पति के द्वारा दन्तक्षत वधू के गाल में है, और सपत्नियों के हृदय में वेदना होती है।

यहां कारणभूत दन्तक्षत तथा कार्यभूत वेदना भिन्नाधिकरण में होने से असङ्गति है, क्योंकि कार्यकारण का एकाधिकरण्य ही प्रसिद्ध है, इसी भिन्नाधिकरणरूप असंगति में ही चमत्कार भी है अतः यह असङ्गति अलंकार है।

विषमालंकार—

क्वचित् यदति वैधर्म्यान् न श्लेषो घटनामियात्।
कर्तुः क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद्भवेत्॥
गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये।
क्रमेण च विरुद्धे यत् स एष विषमो मतः॥

कहीं सम्बन्धियों के अत्यन्त वैधर्म्य के कारण उनका परस्पर सम्बन्ध न बनना प्रतीत हो, वह एक प्रकार का विषमालंकार होता है।

उदाहरण—

शिरीषादपि मृदवङ्गी केयमायतलोचना।
अयं क्व च कुकूलाग्नि कर्कशो मदनानलः॥

शिरीष के फूल से भी अधिक कोमल अङ्गों वाली कहां यह दीर्घलोचना, और कहां तुषाग्नि के समान असह्य यह कामाग्नि।

यहां मदनानल व नायिका दोनों के अत्यन्त विलक्षण होने से उनका सम्बन्ध अनुपपन्न सा प्रतीत होता है, इसलिए यह विषमालंकार है।

शृङ्खलाबन्ध मूलक अलंकार

मालादीपक—

मालादीपकमाद्यं चेद् यथोत्तरगुणावहम्॥

पूर्व पूर्व की वस्तु द्वारा यदि उत्तरोत्तर वस्तु का उपकार (गुणाधान) किया जाए तो वह मालादीपक अलंकार होता है,

उदाहरण—

संग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते।
देवाकर्णय येन येन सहसा यद्यत् समासादितम्।
कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनाऽपि भूमण्डलम्,
तेन त्वं भवता च कीर्तिरतुला कीर्त्या च लोकत्रयम्॥

हे राजन् ? संग्राम भूमि में आये हुए आपके धनुष की प्रत्यञ्चा को चढ़ाने पर, जिस जिस ने जो सहसा प्राप्त किया सो सुनो, (सबसे प्रथम) आपके

धनुष ने बाण को प्राप्त किया, बाणों ने शत्रुओं के शिर को प्राप्त किया, और शत्रु के शिर ने भूमण्डल पृथ्वी प्राप्त की, पृथ्वी ने आपको प्राप्त किया आपने अतुल कीर्ति प्राप्त की और कीर्ति ने तीनों लोकों को प्राप्त किया।

यहाँ पूर्व पूर्व वस्तु द्वारा उत्तरोत्तर वस्तु का उपकार होता है और एक ही आसादन क्रिया का सर्वत्र सम्बन्ध होने से मालादीपक है।

कारणमाला—

यथोत्तरं चेत् पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता।
तदा कारणमाला स्यात्॥

जहाँ अगले अगले अर्थ के प्रति पहिले पहिले अर्थ हेतु (रूप में वर्णित) हों तो वहाँ कारणमाला नामक अलंकार होता है।

उदाहरण—

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः॥

जितेन्द्रियत्व विनय का कारण है, और विनय से गुणों का प्रकर्ष प्राप्त होता है, गुणों के प्रकर्ष से लोगों का अनुराग होता है, और जनानुराग से सम्पत्ति की प्राप्ति होती है।

यहाँ उत्तर उत्तर के प्रति पूर्व पूर्व की हेतुता मानकर कारणमाला अलंकार होता है, यद्यपि यहाँ अनेक कार्यों का वर्णन होने से कार्यमाला भी हो सकती है, परन्तु कारण के ऊपर ही कवि का विशेष संरम्भ होने के कारण इसे कारण माला अलंकार कहते हैं।

एकावली—

स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परं परम्।
विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा॥

जहाँ पूर्व पूर्व वस्तु के प्रति उत्तरोत्तर वस्तु विशेषण रूप रखी जाए, अथवा हटायी जाय वह दो प्रकार का एकावली नामक अलंकार होता है।

उदाहरण—

पुराणि यस्यां सवराङ्गनानि वराङ्गना रूपपुरस्कृताङ्ग्यः।
रूपं समुन्मीलितसद्विलासम् अस्त्रं विलासा कुसुमायुधस्य॥

जिस (उज्जयिनी नगरी) में घर वराङ्गनाओं से युक्त हैं, और वराङ्गनायें रूप से युक्त हैं, और रूप से हाव भाव प्रकट हो रहे हैं, और ने विलास काम के अस्त्र का काम कर रहे हैं।

यहाँ पूर्व पूर्व के प्रति विशेषण रूप में उत्तर उत्तर के स्थापित किये जाने से पहिले प्रकार के एकावली का उदाहण है।

सार—

उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत् सारः परावधिः।

जहाँ पराकाष्ठा पर्यन्त उत्तरोत्तर उत्कर्ष का वर्णन किया जाय वह सार नामक अलंकार होता है।

उदाहरण—

मखमल ते कोमल महा, कदलि-गरभ को पात।
ताहू ते कोमल अधिक, राम तिहारे गात ॥१॥

यहाँ मखमल, केला-गर्भ का पात, और राम के गात एक दूसरे से (उत्तरोत्तर) कोमलता में बढ़कर बतलाये गये हैं।

इसलिए यहाँ सार नामक अलंकार है।

तर्क न्याय मूलक अलंकार

काव्यलिङ्ग—

काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता।

हेतु का वाक्यार्थ अथवा पदार्थ रूप में कथन करना काव्यलिङ्ग नामक अलंकार होता है।

उदाहरण- -

वपुः प्रादुर्भावादनुमितमिदं जन्मनि पुरा।
पुरारे न प्रायः क्वचिदपि भवन्तं प्रणतवान्।
नमन्मुक्तः सम्प्रत्यहमतनुरग्रेऽप्यनतिभाक्।
महेश ! क्षन्तव्यं तददिमपराधद्वयमपि॥

हे शिवजी महाज ? इस शरीर के उत्पन्न होने से यह अनुमान होता है कि पूर्वजन्म में मैंने आपको प्रायः कभी नमस्कार नहीं किया, अब इस जन्म में नमस्कार करता हुआ मैं मुक्त हो जाऊँगा, इसलिए शरीर न रहने से आगे भी आपको नमस्कार नहीं कर सकूँगा, सो मेरे इन दोनों अपराधों को क्षमा करना।

इस पद्य में "पुरा जन्मनि भवन्तं न प्रणतवान्" और "अग्रेऽप्यनतिभाक्" इन वाक्यों का अर्थ अपराधद्वय का हेतु है। यद्यपि अनमन स्वयं अपराध है, इसलिए उसमें साधारणरूप हेतु हेतुमद्भाव नहीं है, परन्तु अनमन को हेतु और उससे उत्पन्न दुरित या अदृष्ट को हेतुमान कहा जा सकता है।

अनुमान—

अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयोर्वचः

जहाँ साध्य साधन का कथन (कुछ चमत्कार पूर्ण) हो वह अनुमानालंकार कहलाता है।

अनुमान में—पक्षधर्मत्व (पक्षसत्व) अन्वयित्व (सपक्षसत्व) तथा व्यतिरेकित्व (विपक्ष व्यावृत्तत्व) रूप से तीन धर्मों से युक्त त्रिरूप हेतु, साधन कहलाता है। और धर्मी अर्थात्-पक्ष में व्यापक वह्नि आदि के अभाव का निषेध अयोग व्यवच्छेद—अर्थात्—अभाव का अभाव—अवश्य सत्ता ही उसका साध्यत्व है। (आयोग व्यवच्छेद का अर्थ यहाँ अन्यूनातिरिक्त विषयत्व भी है)।

उदाहरण—

यत्रैता लहरीचलाचलदृशो, व्यापारयन्ति भ्रुवं।
यत्तत्रैव पतन्ति सन्ततममी मर्मस्पृशो मार्गणाः॥
तच्चक्रीकृतचापमञ्चितशरप्रेङ्खत्करः क्रोधनो।
धावत्यत्रत एव शासनधरः सत्यं सदाऽऽसां स्मरः॥

जलतरङ्गों के समान अत्यन्त चञ्चल नेत्रों वाली ये (प्रसिद्ध तरुणियाँ) जहाँ जिस पर अपनी आंख चला देती हैं, वहीं ये (कामदेव) मर्मवेधी वाण जो निरन्तर गिरने लगते हैं, इससे विदित होता है कि धनुष को चढ़ाये हुए और बाण के ऊपर ही हाथ रखे हुए, उनका आज्ञाकारी क्रोध युक्त कामदेव सचमुच सदा इनके आगे आगे ही दौड़ता रहता है।

यहां पूर्वार्ध में कहा हुआ अर्थ साधनरूप है, और उत्तरार्ध में कहा हुआ अर्थ साध्यरूप है, इसलिए यहां अनुमान अलंकार है, यत् और तत् शब्दों से उन दोनों धर्मों की व्याप्ति सूचित की जाती है।

कहीं कहीं पहले साध्य तथा बाद में साधन का भी कथन होता है, जैसे भर्तृहरि का निम्नाङ्कित पद्य इसका उदाहरण है—

मधु तिष्ठति वाचि योषितां हृदि हालाहलमेव केवलम्।
अतएव निपीयतेऽधरो हृदयं मुष्टिभिरेव ताड्यते॥

वाक्य न्याय मूलक अलंकार

समुच्चय—

तत्सिद्धि हेतावेकास्मिन् यत्रान्यत् तत्करं भवेत्
समुच्चयोऽसौ

उस (प्रकृत) कार्य की सिद्धि का एक हेतु विद्यमान रहने पर भी जहाँ अन्य हेतु भी उसका साधक हो जाय, वह समुच्चय अलंकार कहलाता है।

उदाहरण—

दुर्वाराः स्मर मार्गणाः प्रियतमो दूरे मनोऽत्युत्सुकं;
गाढं प्रेम नवं वयोऽतिकठिनाः प्राणाः कुलं निर्म्मलम्।
स्त्रीत्वं धैर्यविरोधि मन्मथसुहृत् कालः कृतान्तोऽक्षमो,
नो सख्यश्चतुराः कथन्नु विरहः सोढव्य इत्थं शठः ।।

कामदेव के बाणों से बचना ही कठिन है, उस पर भी पति दूर परदेश गये हुए हैं, मन अत्यन्त उत्सुक हो रहा है, प्रेम अत्यन्त प्रगाढ़ हो रहा है, नया यौवन है, प्राण बड़े कठोर हैं, (निकलते नहीं), कुल निर्मल हैं, स्त्रीत्व धैर्य का विरोधी है, काम का परम मित्र वसन्त समय है, यमराज भी इस विषय में कुछ नहीं कर सकते, सखियां भी चतुर नहीं हैं, ऐसी दशा में इस दुष्ट विरह को कैसे सहन किया जाय।

यहाँ केवल कामवाण ही जब असह्य हैं, तब फिर ऊपर से प्रिय विरहादि का युगपत् समापतन का वर्णन समुच्चयालङ्कार है।

पर्याय—

एकं क्रमेणानेकस्मिन् पर्यायः।

एक वस्तु क्रम से अनेक में हो या की जाय तो वह पर्याय अलंकार होता है।

उदाहरण—

नन्वाश्रय स्थितिरियं तव कालकूट ? केनोत्तरोत्तर विशिष्ट पदोपदिष्टः।
प्रागर्णवस्य हृदये वृषलक्ष्मणोऽथ कण्ठेऽधुना वससि वाचि पुनः खलानाम्।

हे कालकूट ! (विष) तुमको उत्तरोत्तर विशिष्ट पद वाले आश्रय में रहने की स्थिति किसने बतलायी है, पहले तुम समुद्र के (हृदय) भीतर रहते थे, फिर शिवजी के कण्ठ में आये, और अब दुष्टों की वाणी में रहते हो।

यहां कालकूट के अनेक स्थानों पर रहने का वर्णन किया गया, इसलिए पर्याय अलंकार का उदाहरण है।

परिसंख्या—

किंचित् पृष्ठमपृष्ठं वा कथितं यत् प्रकल्पते।
तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता ।।

कोई पूछी गयी या बिना पूछी गई, कही गयी बात जो उसी प्रकार की अन्य वस्तु के निषेध में पर्यवसित होती है, वह परिसंख्या कहलाया है।

अन्य प्रमाण से ज्ञात वस्तु भी जब (अनुवादरूप में) शब्द से प्रतिपादित होकर, (उस प्रतिपादन का) अन्य प्रयोजन न होने से अपने सदृश अन्य वस्तु के निषेध में परिणत हो जाता है, वह परिसंख्या अलंकार होता है।

उदाहरण—

किमासेव्यं पुंसां ? सविधमनवद्यं द्युसरितः।
किमेकान्ते ध्येयं ? चरणयुगलं कौस्तुभभृतः ॥
किमाराध्यं ? पुण्यं, किमभिलषणीयं ? च करुणा।
यदासक्त्यां चेतो निरवधि विमुक्त्यै प्रभवति ॥

मनुष्यों को किसका सेवन करना चाहिए ? (उत्तर) गङ्गा के उत्तम तट का। एकान्त में किसका ध्यान करना चाहिए ? (उत्तर) कौस्तुभ धारी भगवान् विष्णु के चरण युगल का। किसकी आराधना करनी चाहिए ? (उत्तर) पुण्य की। किसकी कामना करनी चाहिए ? (उत्तर) करुणा की। जिन गङ्गातटादि की सेवा से चित्त सदा के लिए मुक्ति की प्राप्ति कर सकता है।

यहाँ गङ्गातट, विष्णु के चरणयुगल, आदि का सेव्यत्व तो पुराणादि में प्रसिद्ध ही है, अतः उनके सेव्यत्व का प्रतिपादन करने में इस पद्य का प्रयोजन नहीं है, अपितु इन उक्त पदार्थों का अनुवाद कर, उनसे भिन्न मुक्ति के प्रतिकूल स्त्रीनितम्बादि हिंसादि अन्य सांसारिक विषयों की सेव्यता के निषेध में ही इस पद्य का तात्पर्य है, इसलिए यह परिसंख्या का उदाहरण है।

यथासंख्य—

यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः।

क्रम से कहे हुए पदार्थों का उसी क्रम से समन्वय होने पर यथासंख्य अलंकार होता है।

उदाहरण—

एकस्त्रिधा वससि चेतसि चित्रमत्र।
देवद्विषां च विदुषां च मृगीदृशां च ॥
तापं च सम्मदरसं च रतिं च पुष्णन्।
शौर्योष्मणा च विनयेन च लीलया च ॥

हे देव! आप अकेले ही शत्रुओं, विद्वानों, तथा मृगनयनाओं के मन में शौर्य की गरमी से सन्ताप को उत्पन्न करते हुए, (विद्वानों के मन में) विनय से आनन्द रस को बढ़ाते हुए, और सौन्दर्य से मृगनयनाओं के मन में रति को उत्पन्न करते हुए तीन रूपों में रहते हैं, यह आश्चर्य की बात है।

इस पद्य में द्वितीय चरण में कहे हुए क्रम से ताप सम्मदरस और रति के साथ तथा तृतीय चरण में कहे हुए शौर्योष्मणा, विनयेन और लीलया का उसी क्रम से अन्वय होता है, इसलिए यह यथासंख्य अलंकार का उदाहरण है।

लोक-न्याय-मूलक अलंकार

सामान्य—

प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया ।
ऐकात्म्यं बध्यते योगात् तत्सामान्यमिति स्मृतम् ।।

प्रस्तुत वर्णनीय वस्तु के अन्य अप्रस्तुत के साथ सम्बन्ध से दोनों के गुणों की समानता प्रतिपादन करने की इच्छा से जो उन दोनों के एकात्म्य-अभेद का वर्णन है, वह सामान्य नामक अलंकार कहलाता है।

अर्थात्—सदृश गुणों के कारण प्रकृत का अप्रकृत के साथ जो तादात्म्य है, वह सामान्यालंकार है, जैसा कि विश्वनाथ का कथन है—

सामान्यं प्रकृतस्यान्यतादात्म्यं सदृशैर्गुणैः ।।

उदाहरण—

मल्लिकाचितधम्मिलाश्चारुचन्दनर्चाचिताः ।
अविभाव्याः सुखं यान्ति चन्द्रिकास्वभि सारिकाः ।।

मल्लिका पुष्पों से केशपाश को सजाकर, सुन्दर चन्दन से चर्चित अभिसारिकायें चांदनी में अलक्षित होती हुई सुखपूर्वक जाती हैं।

यहां वर्णनीय नायिका के शुभ्रगुण और चाँदनी के एकाकार प्रतीत होने से सामान्य अलंकार है।

तद्गुण—

स्वमुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्वलगुणस्य यत् ।
वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुणः ।।

जब न्यून गुणवाली प्रस्तुत वस्तु अति उत्कृष्ट गुणवाली अप्रस्तुत वस्तु के सम्बन्ध से अपने स्वरूप या गुण को छोड़कर उस अप्रस्तुत वस्तु के रूप को प्राप्त हो जाती है, उसको तद्गुण अलंकार कहते हैं।

उदाहरण—

विभिन्नवर्णा गरुड़ाग्रजेन सूर्यस्य रथ्याः परितः स्फुरन्त्या ।
रत्नैः पुनर्यत्र रुचा रुचं स्वाभानिन्यिरे वंशकरी रनीलैः ।।

सूर्य के अश्वों का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि गरुड़ के अग्रज अर्थात् सूर्य के सारथि अरुण की रक्त वर्ण के आधिक्य से भिन्न रंग को प्राप्त किये हुए सूर्य के घोड़े जहां बांस के अंकुरों के समान हरिद्वर्ण मरकत मणियों की चारों ओर फैलती हुई कान्ति से फिर अपनी कान्ति को प्राप्त कराये गये।

यहां सूर्य के घोड़ों की अपेक्षा अरुण के वर्ण का उत्कर्ष है, उसकी भी अपेक्षा मरकत् मणियों के वर्ण की उत्कृष्टता है। अरुण के द्वारा घोड़ों का जो रंग बदल गया था वह फिर रैवतक पर्वत के समीप आने पर मरकत मणियों के सम्पर्क से फिर घोड़ों का रंग हरा हो गया। अत्युत्कृष्ट गुण का पुनः ग्रहण कर लेने से यह तद्गुणालंकार है।

अतद्गुण—

तद्रूपाननुहारश्चेदस्य तत् स्यादतद्गुणः।

समीपस्थ वस्तु का योग होने पर भी इसके द्वारा उस प्रकार के गुण का अनुसरण न किये जाने पर अतद्गुण होता है। अर्थात् समीपस्थ होने पर भी न्यून गुणवाला अप्रस्तुत उस प्रस्तुत गुण या वर्ण को ग्रहण नहीं करे तो अतद् गुण नाम का अलंकार होता है।

उदाहरण—

धवलोऽसि यद्यपि सुन्दर ! तथापि त्वया मम रञ्जितं हृदयम्।
रागभरितेऽपि हृदये सुभग ! निहितो न रक्तोऽसि॥

हे सुन्दर ! तुम यद्यपि धवल (गौरवर्ण के) हो फिर भी तुमने मेरे हृदय को रंग दिया, और मैंने तुमको रागयुक्त हृदय में रक्खा, फिर भी हे सुभग ! तुम अनुरक्त नहीं हुए।

यहां अत्यन्त अनुरक्त हृदय सें संयुक्त होने पर भी नायक अनुरक्त नहीं हुआ इसलिए अतद्गुण अलङ्कार है।

गूढार्थप्रतीति मूलक अलंकार

स्वभावोक्ति—

स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्।

बालक आदि की अपनी (स्वाभाविक) क्रिया अथवा रूप अर्थात् वर्ण एवं अवयव संस्थान का वर्णन, स्वभावोक्ति अलंकार है।

उदाहरण—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः।

इत्यादि अभिज्ञान शाकुन्तल के इस पद्य में भय से भागते हुए मृग के स्वभाव का सूक्ष्म वर्णन होने से यह स्वभावोक्ति अलंकार का उदाहरण है।

भाविक—

प्रत्यक्षा इव यद्भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः।
तद् भाविकम्

अतीत और अनागत पदार्थ जब (भावनावश कवि के द्वारा) प्रत्यक्ष से कराये जाते हैं, भाविक नामक अलंकार कहते हैं।

उदाहरण—

आसीदञ्जनमत्रेति पश्यामि तव लोचने ।
भाविभूषणसम्भारां साक्षात् कुर्वे तवाकृतिम् ॥

प्रिये ! जिनमें अञ्जन लगा हुआ था इस प्रकार के तुम्हारे नेत्रों को देख रहा हूँ, और आगे होने वाले आभूषणों से अलंकृत तुम्हारी (अनागत) आकृति को (भावनावश) साक्षात् देख रहा हूं ।

इस पद्य के पूर्वार्ध में अतीत का और उत्तरार्ध में अनागत का दर्शन है ।

व्याजोक्ति—

व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम् ।

प्रकट हुए वस्तु के स्वरूप को किसी बहाने से छिपाने (के प्रयत्न या वर्णन) को व्याजोक्ति अलंकार कहते हैं ।

उदाहरण—

शैलेन्द्र प्रतिपाद्यमानगिरिजा हस्तोपगूढोल्लसत्,
रोमाञ्चादि विसंष्ठुलाखिलविधिव्यासङ्गभङ्गाकुलः ।
हा शैत्यं तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान् सस्मितं,
शैलान्तः पुरमातृमण्डलगणैर्दृष्टोऽवताद् वः शिवः ॥

(शिव पार्वती के विवाह में कन्यादान के अवसर पर) हिमालय के द्वारा समर्पित की जाती हुई पार्वती के हाथ के स्पर्श से समुद्भूत रोमाञ्चादि के कारण, सारे क्रियाकलाप के गड़बड़ा जाने से घबराये हुए, हाय हिमालय के हाथ बड़े शीतल हैं, कहने वाले हिमालय के अन्तःपुर की स्त्रियों के, मातृमण्डल (ब्राह्मी आदि) एवं (नन्दी आदि) गणों के द्वारा मुस्कराते हुए देखे गये शिव तुम्हारी रक्षा करे ।

यहां पार्वती के हाथ के स्पर्श से उत्पन्न सात्विक भावरूप-रोमाञ्च, तथा कम्प प्रकट हो गये, परन्तु (हिमालय के हाथ स्पर्श से) शैत्य के कारण हुए हैं, इस प्रकार प्रकाशित करते हुए (उनकी सात्विकरूपता को) छिपाया गया है, इसलिए यह व्याजोक्ति अलंकार है ।

सूक्ष्म—

कुतोऽपि लक्षितः सूक्ष्मोऽप्यर्थोऽन्यस्मै प्रकाश्यते ।
धर्मेण केनचिद् यत्र तत्सूक्ष्मं परिचक्षते ॥

दुर्ज्ञेय (सूक्ष्म) भी अर्थ किसी भी प्रकार से जान लिया गया है, यह बात (अथवा जाना हुआ सूक्ष्म अर्थ भी) जहां किसी (आकारादि) धर्म से दूसरे को बतलायी जाती है उसको सूक्ष्म अलंकार कहते हैं ।

उदाहरण—

विनय प्रेम बस भई भवानी ।
खसी माल मूरति मुसकानी ।।

यहाँ विनय से भवानी जी सीताजी के मन का अभिप्राय समझ गई और मुसकाकर अपना तात्पर्य भी बता दिया। संकेत से संकेतित अर्थ का प्रकटीकरण होने से सूक्ष्म अलंकार है।

संसृष्टि—

सेष्टा संसृष्टिरे तेषां भेदेन यदिह स्थितिः ।

इन (दो या अधिक) अलंकारों की यहां (काव्य या वाक्य में) भेद से (परस्पर निरपेक्ष रूप से) जो स्थिति है, वह संसृष्टि (नामक अलंकार) मानी जाती है।

शब्दालंकार की संसृष्टि—

वदनसौरभलोभपरिभ्रमद्भ्रमरसम्भ्रमसम्भृतशोभया ।
चलितया विदधे कलमेखलाकलकलोऽलकलोलदृशाऽन्यया ।।

माघ काव्य के छठे सर्ग का ऋतु वर्णन के प्रसङ्ग का यह पद्य है—

अपने मुख की सुगन्धि के लोभ से (मुख के ऊपर) मँडराते हुए भ्रमर के आतङ्क से घबराकर, और भी अधिक शोभा को धारण करने वाली, भ्रमर भय से भागती हुई, केशपाश के गिरने से और भी अधिक चञ्चल नेत्रों वाली के भागने से सुन्दर मेखला का सुन्दर शब्द होने लगा।

यहां पूर्वार्ध में "मकार" के तथा तृतीय चरण में लकार के अनेक बार प्रयोग होने से अनुप्रास अलंकार है।

चतुर्थ चरण में "लकलो लकलो" की आवृत्ति होने से यमकालंकार है, ये दोनों शब्दालंकार एक श्लोक में परस्पर निरपेक्ष रूप से स्थित है। अतः यहां शब्दालंकारों की संसृष्टि है।

अर्थालङ्कारों की संसृष्टि—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षनं तीवाञ्जनभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ।।

अन्धकार अङ्गों का लेपन सा कर रहा है, और आकाश से अञ्जन बरस सा रहा है। असत् पुरुष की सेवा के समान दृष्टि विफल हो गयी है।

इस पद्य के पूर्वार्ध में तम अन्धकार के व्यापन में लेपन विषयक तथा वर्षण विषयक उत्प्रेक्षा की गई है।

उत्तरार्ध में "असत्पुरुष सेवेव" में उपमा अलंकार है। इन दोनों अर्थालङ्कारों की परस्पर निरपेक्ष स्थिति है।

अत: यह अर्थालङ्कारों की संसृष्टि है ।

अङ्गाङ्गिभावसङ्कर—

अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गाङ्गित्वं तु सङ्करः ।

अपने स्वरूपमात्र में जिनकी विश्रान्ति न हो, अर्थात्—जो परस्पर निरपेक्ष भाव से स्वतन्त्र अलंकार न बनते हों, उनका अङ्गाङ्गिभाव होने पर सङ्कर अलंकार होता है ।

उदाहरण—

आत्ते सीमन्तरत्ने मकरतिनि हृते हेमताटङ्कपत्रे,
लुप्तायां मेखलायां झटिति मणितुलाकोटियुग्मे ग्रहीते ।
शोणं बिम्बोष्ठकान्त्या त्वदरि मृगदृशामित्वरीणामरण्ये,
राजन् ! गुञ्जाफलानां स्रज इति शबरा नैव हारं हरन्ति ।।

हे राजन् ! तुम्हारे डर के मारे जङ्गलों में भागती हुई तुम्हारे शत्रुओं की स्त्रियों के मरकतमणियों से युक्त शिरोभूषण को छीन लेने पर (अर्थात् सर्व प्रथम शिरोभूषण दिखाई देने से जंगली भीलों ने उसको छीन लिया, उसके बाद) सोने के बने ताटङ्क पत्र के निकाल लेने के बाद, तगड़ी को तोड़ लेने पर, मणियों से जटित नूपुरों को ले लेने पर भी (सिर से पैर तक सारे आभूषण तो भीलों ने छीन लिये किन्तु उन स्त्रियों के) बिम्ब फल के समान रक्तवर्ण ओष्ठ की कान्ति से लाल हो रहे, शुभ्र मोतियों के हार को यह गुञ्जा फलों की माला है ऐसा समझकर भील नहीं छीनते हैं ।

यहां बिम्बोष्ठ की कान्ति से सफेद मोतियों का हार भी लाल मालूम पड़ता है, यह तद्गुणालंकार है । इस तद्गुण के कारण मोतियों के हार में गुञ्जाफल की माला की भ्रान्ति हो जाने से भ्रान्तिमान् अलंकार उत्पन्न हो गया है, और उस भ्रान्तिमान के कारण तद्गुण अलंकार सहृदयों के लिए और भी चमत्कार जनक हो उठा है, इसलिए इन दोनों के एक दूसरे के उपकारक होने से उनका अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर है ।

काव्य प्रकाश का अर्थालंकार निरूपण नामक
दशम उल्लास समाप्त हुआ

शुभम्—भूयात्

PARIMAL PUBLICATIONS

27/28, SHAKTI NAGAR
DELHI 110007 (INDIA)
Phone: 7127209, 7862183
Fax: 011-7862183
E-mail: parimal@giasdla.vsnl.net.in